डा० रवीन्द्रकुमार जैन

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न
रीडर एवं विभागाध्यक्ष
स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोध-संस्थान
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

बिहारी नवनीत

प्राक्कथन

कविवर बिहारी की सतसई की अनेक टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं एवं उक्त सतसई के काव्यसौष्ठव पर अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं और आये दिन होते भी रहते हैं। फिर भी इस पुस्तक के प्रकाशन का क्या आशय है ? यह पुस्तक मूलतः छात्रों का ध्यान रखकर लिखी गयी है, विद्वानों को भी इसमें कुछ मिल जाए यह एक अलग बात है। इसमें रत्नाकर द्वारा रचित 'बिहारी रत्नाकर' के आरम्भिक दो सौ दोहे और शेष में से भी कुछ दोहे चुने गए हैं। उन दोहों की टीका भी दी गयी है। टीका में अर्थ के साथ काव्यसौष्ठव और अलंकार-सौन्दर्य भी उद्घाटित किया गया है। आरम्भ में लम्बी भूमिका है जो बिहारी के काव्य की अनेकविध समीक्षा प्रस्तुत करती है। इसमें बिहारी से सम्बन्धित सभी प्रमुख पक्ष आ गए हैं। फलतः छात्रों को टीका और सामान्य प्रश्नों के निमित्त अलग-अलग ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं रहेगी। छात्रों की इस असुविधा का अनुभव, कई वर्षों से मैंने स्वयं किया है, अतः यह पुस्तक लिखना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ।

—रवीन्द्रकुमार जैन

अनुक्रम

१.

जीवन-वृत्त

प्रसिद्ध भारतीय प्राचीन संतों, दार्शनिकों एवं कवियों की भांति रससिद्ध कविवर बिहारी की जीवनी के लिए भी हमें प्राय: कल्पनाओं और अनुमानों का आश्रय लेना पड़ता है। इस विषय में प्राप्त निश्चायक साधनों को हम सामान्यतया पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) बिहारी सतसई में प्राप्त उल्लेख। (२) कुछ प्रसिद्ध दोहे। (३) टीकाकारों द्वारा सतसई के कुछ दोहों की जीवन-वृत्त-परक व्याख्या। (४) नवीन शोध के फलस्वरूप प्राप्त दोहात्मक जीवन-वृत्त। (५) आलोचकों द्वारा निर्धारित जीवन-वृत्त। कविवर बिहारी की जीवनी पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाले प्रमुख इतिहासकार एवं आलोचक विद्वान् हैं—डा० ग्रियर्सन, रत्नाकर, मिश्रबन्धु, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी एवं आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। इन सभी विद्वानों के निर्णयों की आधारशिला निम्नलिखित तीन दोहे रहे हैं—

"प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरौ हरौ कलेसु सबु, केसौ केसौराइ ॥

× × ×

"संवत जुग सर रस सहित भूमि रीति गिनि लीन।
कातिक सुदि बुध अष्टमी, जनम हमें विधि दीन ॥"

× ×

"जनमु ग्वालियर जानियै, खण्ड बुन्देलै बाल।
तरुनाई आई सुघर, बसि मथुरा ससुराल ॥"

प्रथम दोहे के आधार पर कवि की जीवनी के विषय में ये बातें प्रकाश में आती

१. बिहारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।
२. बिहारी स्वयं ही ब्रज में आ बसे थे।
३. केशव तथा केशवराय क्रमश: इनके गुरु तथा पिता थे।
४. बिहारी के इष्टदेव (केशव—कृष्ण) थे।

यह दोहा बिहारीकृत है।

द्वितीय दोहा बिहारी-सतसई के किसी टीकाकार का है, बिहारी स्वयं का नहीं। इस दोहे से कवि के जन्म संवत् के विषय में सूचना मिलती है। यह तिथि यदि अक्षरश: सत्य न भी हो तो कम से कम इसके अत्यन्त निकट (आगे या पीछे) ही बिहारी का जन्म हुआ होगा—इतना निश्चय तो हो ही जाता है। इस दोहे का अर्थ 'अंकानां वामतो गतिः' के आधार से ऐसा होगा—जुग=२, सर=५, रस=६, भूमि=१, अर्थात् १६५२ विक्रमाब्द। दोहे का उत्तरार्द्ध स्पष्ट ही है। अतः बिहारी का जन्म कार्तिक सुदी अष्टमी दिन बुधवार विक्रम संवत् १६५२ को हुआ। प्रायः सभी विद्वानों ने इसी तिथि को प्रामाणिक तिथि के रूप में स्वीकार कर लिया है।

तृतीय दोहे से कवि के जन्म-स्थान, बाल्यकाल, यौवन एवं विवाह के सम्बन्ध में सूचनाएं मिलती हैं—

१. बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ।

२. बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में बीती।

३. मथुरा इनकी ससुराल थी जहां यह युवावस्था में रहे थे।

उल्लिखित दोहों में प्राप्त तथ्यों में से बिहारी के वंश और पिता-विषयक दो तथ्यों पर विद्वानों में भारी मतभेद रहा है। कतिपय विद्वानों का मत है कि बिहारी माथुर चौबे थे और रीतिकालीन प्रसिद्ध आचार्य केशव के शिष्य थे। कुछ अन्य विद्वान् इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण तथा केशवदास को आचार्य एवं गुरु नहीं इनका पिता मानते हैं। विचारकों का तृतीय वर्ग ऐसा भी है जो राय शब्द के आधार पर बिहारी को राय (भाट) मानता है।

वंशगत मतभेद

१. कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० गिरिधर शर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं पं० लोकनाथ की यह मान्यता है कि बिहारी धौम्य गोत्रीय माथुर चौबे थे तथा उनकी शाखा अश्व लायन थी। बिहारी की बहिन का विवाह मिश्र कुल में हुआ था। चौबे ब्राह्मणों की कन्याएं आज भी मिश्र कुल में जाती हैं। इससे बिहारी का चौबे होना ही प्रमाणित होता है। यह मत ही बहुमान्य है।

२. द्वितीय मत उन विद्वानों का है जो कविवर बिहारी को 'केसौराय' के राय शब्द के आधार पर भाट मानते हैं। ऐसे विद्वानों में डा० ग्रियर्सन एवं राधाचरण गोस्वामी हैं।

३. तृतीय मत उन आलोचकों का है जो बिहारी को 'काकोर' कुलोत्पन्न मानते हैं। इस बात का आधार कृष्ण कवि (जिन्हें बिहारी का पुत्र माना जाता है) का काकोर कुल है। परन्तु अभी तक इस बात की पुष्टि नहीं हो

सकी है। कृष्ण कवि कृत बिहारी सतसई की टीका में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। इस मत के समर्थक एवं संस्थापक मिश्रबन्धु हैं।

बिहारी के पिता के विषय में मतभेद

कवि के पिता के विषय में मतभेद का मूलाधार एक ही दोहा है—

प्रगट भये द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेसु सबु केसब केसबराइ॥

बिहारी सतसई के इस दोहे के आधार पर कुछ विद्वान् बिहारी को प्रसिद्ध आचार्य कवि केशव का पुत्र मानते हैं और कुछ इसके विपरीत हैं। इस विषय में अधिक उलझन नहीं है क्योंकि केशव सनाढ्य ब्राह्मण थे और बिहारी माथुर चौबे, अतः दोनों पिता-पुत्र नहीं हो सकते। पिता और पुत्र के गोत्र में इतना अन्तर किसी प्रकार संभव नहीं हो सकता। इतना ही सम्भव प्रतीत होता है कि बिहारी केशव के सान्निध्य में रहे हों और काव्याभ्यास किया हो। अतः कविवर केशवदास बिहारी के गुरु हो सकते हैं। इतना निश्चित है कि बिहारी के पिता का नाम केशव अथवा केसौराय था जो एक उच्चकोटि के विद्वान् एवं कवि रहे होंगे। बिहारी के पिता के इस नाम का समर्थन कुलपति मिश्र (बिहारी के भानजे) के 'संग्राम सागर' के इस दोहे से भी होता है—

"कविवर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाय॥"

इस दोहे का समर्थन 'रस चन्द्रिका' तथा 'लाल चन्द्रिका' के लेखकों ने भी किया है।

बिहारी के एक भाई तथा एक बहन थी। इसी बहन से कुलपति मिश्र का जन्म हुआ था। कविवर बिहारी के पिता इन्हें आठ वर्ष की आयु में ग्वालियर से ओरछा (रियासत) ले गये। वहां महाकवि केशवदास से बिहारी का सम्पर्क स्थापित हुआ। फलस्वरूप केशवदास जी से आपने काव्यग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। ओरछा के समीपवर्ती गुढ़ा ग्राम में निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुभवी महात्मा नरहरिदास रहते थे। बिहारी के पिता इन्हीं के शिष्य थे। बिहारी ने इनसे ही संस्कृत, धर्मशास्त्र एवं प्राकृत का अध्ययन किया। संवत् १६६४ में महाकवि केशवदास का देहान्त हो गया। तभी बिहारी के पिता केशवराय बिहारी तथा अपने अन्य बच्चों सहित वृन्दावन आ गये। "वृन्दावन में बिहारी ने साहित्य के साथ संगीत का भी अभ्यास किया। उसी समय इनका विवाह माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में हुआ। विवाह के बाद वह अपनी ससुराल में ही रहने लगे। संवत् १६७५ में शाहजहां वृन्दावन आया और स्वामी हरिहर दास जी के स्थान का दर्शन करने के निमित्त विधुवन गया। वहां

महात्मा नरहरिदास जी ने बिहारी की काव्यनिपुणता का बादशाह के समक्ष वर्णन किया जिसे सुनकर शाहजहां इन्हें अपने साथ आगरा ले गया। आगरा में इन्होंने फारसी की शायरी का अध्ययन किया। यही इनकी अब्दुर्रहीम खानखाना से भेंट हुई। कहते हैं, खानखाना की प्रशंसा में बिहारी ने कुछ दोहे भी लिखे जिनसे प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हें प्रभूत धन पुरस्कार में दिया।"[1]

शाहजहां ने पुत्र जन्मोत्सव में अनेक राजा महाराजाओं को आमंत्रित किया। बिहारी ने इस अवसर पर अपनी काव्यकला से अनेक नृपतियों को प्रभावित किया। फलस्वरूप राजाओं ने कवि की वार्षिक वृत्ति बांध दी।

वृत्ति प्राप्त करने के लिए एक बार बिहारी आमेर पहुंचे। वहां पहुंचकर ज्ञात हुआ कि राजा जयसिंह (जयसाह) अपनी नवोढा रानी के सौंदर्य पर रीझकर राजकाज छोड़ बैठे हैं और महलों में ही पड़े रहते हैं। किसी का भी साहस नहीं था कि महाराज से कुछ कह सकता। बिहारी ने बड़े कौशल से किसी प्रकार यह प्रसिद्ध दोहा महाराज तक पहुंचा ही दिया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल।
अली कली ही स्यौं बंध्यौं, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे ने राजा पर रामबाण जैसा प्रभाव छोड़ा। वे पुनः अपने राजकार्य में लग गये और बिहारी को उनके इस नैपुण्य के लिए प्रचुर धन दिया तथा भविष्य में भी ऐसे दोहों पर पुरस्कार का आश्वासन दिया। इसके पश्चात् कविवर बिहारी आमेर के राजकवि के रूप में रहने लगे।

संतान

बिहारी की संतान के विषय में भी अटकलें लगाई जाती हैं। प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सतसई के टीकाकार कृष्ण कवि को इनका पुत्र बताया जाता है। दूसरा मत यह भी है कि बिहारी ने अपने भतीजे निरंजन को अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। "ये निरंजन कृष्ण ही कृष्ण या कृष्ण लाल के नाम से भी पुकारे जाते थे।" रत्नाकर जी के अनुसार "इस प्रकार के नाम खण्डित होकर आए, आधे भी पुकारे जाते हैं। इसलिए कोई उन्हें निरंजन कहता होगा और कोई कृष्ण।"[2]

देहान्त

"कविवर बिहारी की मृत्यु किंवदन्ती के अनुसार ब्रज में होना प्रसिद्ध

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ५१२।
२. बिहारी और उनका साहित्य, ले० डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ९।

किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। संवत् १७२० के आसपास ये परलोकवासी हुए।"[1] "सम्भवतः ये संवत् १७२९ तक वर्तमान रहे।"[2]

बिहारी के जीवन में घटनाओं की बहुलता है परन्तु कुछ ऐसी उज्जवल प्रेरणादायिनी घटनाएं हैं जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार तीर की भांति चुभकर कवि के एक ही दोहे ने महाराज जयसिंह को विलास की मदिरा से पृथक् कर सच्चे जीवन की ओर मोड़ दिया था उसी प्रकार सम्राट् शाहजहां भी आप पर लट्टू था और रहीम तो मन्त्रमुग्ध ही थे। राजकुमार दारा के जन्मोत्सव पर बिहारी ने अधोलिखित दोहा कहा जिस पर उन्हें स्वर्णमुद्राओं से ढक दिया गया।

गंग गौंछ मौंछें जमुन, अधरन सरसुति-राग
प्रगट खान खानान कैं, कामद वदन प्रयाग ॥

बिहारी में रसिकता तो भरपूर थी ही पर उनमें हिन्दुत्व एवं राष्ट्रीय भावना भी भरपूर थी। राजा जसवन्त सिंह ने जिस समय शिवाजी पर आक्रमण करना चाहा उस समय बिहारी ने बड़े प्रभावी एवं अचूक स्वर में कहा था—

स्वारथु सुकृतु न, स्रमु वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि, तूं पंछीनु न मारि ॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कविवर बिहारी का जीवन देशाटन, विद्याध्ययन, संगीत, श्वसुरालय के अनुभव, राजाओं का गहरा सम्पर्क, राष्ट्रीय भावना भक्ति एवं शृंगार के विविध तत्वों का ऐसा अनुपम पञ्चामृत है जो हिन्दी-साहित्य में अपना अक्षुण्ण महत्त्व रखता है।

बिहारी की सतसई उनकी इकलौती बेटी है। इसके प्रभाव के विषय में लिखना एक धृष्टता मात्र होगी। सम्पूर्ण हिन्दी जगत सुपरिचित है। केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि "मुगलकालीन उत्तर भारत की सामाजिक दशा का जैसा चित्रण विहारी सतसई में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। बिहारी ने एक ओर साहित्यिक रीति परम्परा की स्वच्छन्द शैली का निर्वाह किया है तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के माध्यम से तत्कालीन जातीय जीवन का चित्रण अंकित करने में भी कौशल दिखाया है।"[3] "निष्कर्ष यह कि बिहारी कोरे कवि ही न थे, प्रत्युत् देशकालवित् सामाजिक भी थे। उनकी रचना मे केवल

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ५१३।
२. बिहारी मीमांसा ले० डा० राम सागर त्रिपाठी, पृ० २८।
३. हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास, सं० डा० नगेन्द्र, पृ० ५१४।

श्रृंगार रस ही नहीं, किन्तु अन्य रसों का भी सन्निवेश है।"[1]

कविवर बिहारी की जीवनी को आलोकित करने वाले तथ्य सूत्र रूप में ये हैं—

१. बिहारी का जन्म सं० १६५२ में धौम्य गोत्री माथुर वंश में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था जो स्वयं विद्वान् थे। इनके एक भाई और एक बहन थी।

२. इनका बचपन बुन्देलखण्ड में बीता। ये अपने पिता के साथ ओरछा (राज्य) में रहे।

३. सं० १६६४ में ओरछा की स्थिति बिगड़ जाने से इनके पिता और ये वृन्दावन आ गये।

४. कविवर केशवदास और स्वामी नरहरिदास बिहारी के मार्गदर्शक एवं गुरु थे।

५. माथुर चौबे घराने में विवाह हुआ और फिर ये ससुराल में ही रहने लगे।

६. संवत् १६७५ में वृन्दावन में सम्राट शाहजहां ने इन की कविता सुनी और प्रसन्न होकर इन्हें आगरा ले गया।

७. राजकुमार दारा के जन्मोत्सव पर अनेक नृपतियों ने बिहारी के काव्य को सुनकर प्रशंसा की और वार्षिक वृत्ति भी बांध दी।

८. आमेर के राजा जयसिंह के विलासी जीवन को कवि ने एक दोहे से ही बदल दिया।

९. सतसई की रचना महाराज जयसिंह की प्रेरणा से की।

१०. इनका देहान्त संवत् १७२१ में हुआ।

१. बिहारी विभव, ले० श्री हरदयालु सिंह, पृ० ३२।

२

सतसई साहित्य की परम्परा और उसमें बिहारी सतसई का स्थान

भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही प्रबन्धों की रचना होती रही है। हमारी आध्यात्मिक एवं रसवादी चेतना इसके मूल में रही है। हमने जीवन को उसके विराट् एवं उदात्त रूप में एवं लोकजीवन से सम्बद्ध देखना चाहा है। यह कार्य प्रबन्धों में ही सम्भव था। किन्तु मानव मन मूलतः एक इकाई है, एक उर्मि है, एक वैयक्तिक सत्ता है, अतः अनुभूति की तीव्रता में वह मुक्त एवं खण्ड-खण्ड होकर ही अभिव्यक्त होता है। पश्चात् वह अनुभूति बिन्दु भले ही एक सागर बन जाए। लघु से महान् होने का क्रम चिरन्तन है। अतः हमारे साहित्य में भी मुक्तकों का एक सुदीर्घ क्रम प्राप्त है। मुक्तकों के संग्रह की प्रवृत्ति ही आगे चलकर दशक, शतक, शती, सप्तशती या सतसई आदि नामों से प्रकट होने लगी। संस्कृत साहित्य में चौरपंचाशिका, अमरूक शतक तथा आर्या सप्तशती आदि ग्रन्थ इसी प्रकार की रचनाएं हैं। इन संग्रहों में प्रायः एक ही रस, भाव, नीति, अध्यात्म आदि के पद्यों का संग्रह किया जाता रहा है। मुख्यतः सभी संग्रहों में शृंगार रस ही रहा है क्योंकि उसकी प्रभावकता और व्यापकता असंदिग्ध है। शृंगार रस में मानव की अधिकतम वृत्तियां रमती हैं। इसका क्षेत्र मानव ही क्या प्राणिमात्र तक व्याप्त है। यह रसराज इसीलिए है कि अन्य सभी रस इसके अंग बनकर इसमें समा सकते हैं।

सतसई परम्परा का प्रारम्भ

मुक्तक रचनाओं का संग्रह करके उन्हें ग्रन्थ का रूप देने का सर्वप्रथम कार्य हाल की 'सतसई' द्वारा सम्मुख आया। यह रचना प्राकृत भाषा की है। कविवर हाल ने अपने शृंगारपरक सात सौ दोहों का संग्रह करके उसे 'सतसई' नाम दिया। हाल की सतसई का जनता और कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अनेक कवियों ने तो अपने ग्रन्थों का जानबूझकर नामकरण भी 'सतसई' ही

किया। शृंगार रस का अत्यन्त सजीव चित्र विधान होने के कारण हाल की 'सतसई' सात सौ पद्यों का संग्रह ग्रंथ न रहकर शृंगार रस का ग्रन्थ ही बन गयी। अपभ्रंश भाषा में आनन्दवर्धनाचार्यकृत गाथा सप्तशती प्राप्त होती है। अपभ्रंश भाषा का साहित्य विपुल है किन्तु दुर्भाग्यवश अभी इस दिशा से सम्बद्ध साहित्य अल्प मात्रा में ही प्रकाश में आया है।

संस्कृत साहित्य में तो इस प्रकार के संग्रहों की एक पुष्ट परम्परा ही प्राप्त होती है। दशक, पंचाशिका, शतक, पञ्चशती, सप्तशती आदि रूपों में अनेक संग्रह प्रस्तुत हुए। पांचवीं शताब्दी में धनपाल की 'ऋषभपंचाशिका' रची गयी। आगे इसी क्रम में 'वक्रोक्ति पंचाशिका' और 'चौर पंचाशिका' भी रची गयी। इन ग्रन्थों में शृंगार रस के विभिन्न पक्षों का प्रभावकारी एवं सरस चित्रण हुआ है।

सातवीं शती में मयूर कवि कृत 'सूर्य शतक' बाणभट्ट कृत 'चण्डी शतक' तथा भर्तृहरि कृत 'शतक त्रय' प्राप्त होते हैं। ये तीनों शतक क्रमशः शृंगार, नीति एवं वैराग्य शतक के रूप में रचे गये हैं। ये तीनों शतक अपने-अपने भावक्षेत्र के अद्वितीय काव्य-ग्रन्थ हैं। 'अमरुक शतक' भी इसी शती का शृंगार रस प्रधान पद्यों का संग्रह है। बिहारी पर हाल और भर्तृहरि से भी अधिक प्रभाव 'अमरुक शतक' का पड़ा है।

ग्यारहवीं शती में कवि विलक्षण की 'चौर पंचाशिका' प्राप्त होती है। इसमें यौवन और शृंगार रस का पर्याप्त उद्दाम वर्णन प्राप्त होता है।

हिन्दी में सतसई परम्परा

सतसई की परम्परा प्रायः शृंगार रस के पद्यों के संग्रह की रही है। हिन्दी में आरम्भ में सतसई में इस रस की उपेक्षा हुई। तुलसी सतसई और रहीम सतसई हिन्दी की आरम्भिक सतसइयां हैं। इनमें वैराग्य, नीति और भक्ति के दोहे हैं।

बिहारी सतसई से ही हिन्दी में शृंगार रस प्रधान सतसई ग्रन्थों की व्यवस्थित और प्रभावक परम्परा आरम्भ होती है। वास्तव में तुलसी और रहीम की सतसइयां तो सामान्य संग्रह मात्र हैं। उनमें किसी एक भावक्रम या रस की कोई निश्चित योजना नहीं है। अतः एक अन्विति और संगठन का गहरा अभाव भी है। बिहारी सतसई से ही हिन्दी में सतसई परम्परा का सच्चा शुभारम्भ होता है। इस सतसई में एक रस का ही आद्यन्त निर्वाह किया गया है। बस पांच, दस दोहे बीच में भक्ति या नीति के आ गये हैं। परन्तु ऐसे दोहों में भी शृंगार का प्रभाव प्रायः आ ही गया है। सतसई का प्रथम दोहा ही इसका उदाहरण है। 'बिहारी सतसई' में बिहारी ने आलम्बन

उद्दीपन विभावों का, हाव-भाव एवं अनुभावों का और सौंदर्य तथा यौन-चेष्टाओं का, छवियों का जैसा अनुभूतिमूलक, कल्पनाप्रवण, भाषापुष्ट एवं ललित तथा सामासिक वर्णन किया है वैसा उनसे पूर्व और पश्चात् दुर्लभ ही रहा है। यह सतसई सतसई परम्परा का श्रृंगार है। श्रृंगार में संयोग और वियोग पक्षों की जितनी विविधता, विचित्रता और विवृत्ति अपनी पूर्णता में बिहारी सतसई में प्राप्त होती है, वह अन्यत्र अप्राप्य ही रही है। इस सतसई में कुल ७१९ दोहे हैं। इस रचना पर गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती तथा अमरुक शतक का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। यहां सतसई का वैशिष्ट्य प्रकट करने के लिए एक दो उदाहरण प्रस्तुत करना वांछनीय है। अनुप्रास के साथ भाषा की ध्वन्यात्मकता का निर्वाह प्रस्तुत दोहे में दृष्टव्य है—

रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥
छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झँपत, भौंर झौंर मधु गंध॥

पवन का झूमते हुए चलना हाथी का दृश्य प्रस्तुत करता है। लगता है हाथी ही अपना घंटा बजाता हुआ आ रहा है। दूसरे में बसन्त श्री से उन्मत्त भौरों का चित्र दृष्टव्य है ही।

नेत्र सौन्दर्य का एक चित्र—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू जिहि बस होत सुजान॥

इस दोहे में नेत्रों की तीक्ष्णता और दीर्घता तो वर्णित हैं ही, किन्तु 'वह चितवनि औरे कछू' में जो व्यंजना है वही उसका प्राण है।

बिहारी अलंकार योजना में तो एक लोकोक्ति ही बन गये हैं और यमक के निर्वाह में तो वे और भी चरम पर हैं—

तो पर बारों उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥
बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन॥

बिहारी सतसई की सर्वाधिक लोकप्रियता ने अनेक कवियों को प्रभावित एवं प्रेरित किया। फलतः सतसई परम्परा का गुण और परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ। 'बिहारी सतसई' के पश्चात् 'वृन्द सतसई' की रचना

हुई। यह रचना संवत् १७६१ की है। इसमें नीति विषयक दोहे अधिक हैं। उक्तिवैचित्र्य, नीतिज्ञान का कलात्मक प्रक्षेपण, भाषा सारल्य एवं सौष्ठव इस कृति की अपनी प्रतिनिधि विशेषताएं हैं। इतनी ललित एवं प्रभावक उक्तियां हिन्दी में प्राय: दुर्लभ हैं।

'मतिराम सतसई' श्रृंगार रस प्रधान रचना है। इसमें बिहारी जैसा चमत्कारी कौतूहल, भाषा लालित्य एवं कल्पना लोक नहीं है। लेकिन मतिराम ने संयोग-वियोग के वर्णनों में सहजता और गंभीरता की रक्षा की है। मतिराम में गठन कम है, प्रवाह अधिक है।

रसनिधि की भी एक सतसई प्राप्त होती है। इसमें प्रेम और श्रृंगार का अत्यन्त उद्दीपनकारी एवं मांसल वर्णन है। इनके वर्णन मांसल एवं इन्द्रियपरक अधिक हैं। इनमें अश्लीलता भी आ गयी है।

इसके बाद रामसहायदास कृत 'राम सतसई' का नाम आता है। यह ग्रन्थ पूर्णतया बिहारी सतसई के अनुकरण पर लिखा गया है। इसमें भी वर्णनों को व्यंग्य के स्थान पर वाच्य ही रखा गया है तथा अश्लीलता भी आ ही गयी है।

'विक्रम सतसई' और 'वीर सतसई' इस परम्परा के उल्लेख्य अन्तिम ग्रन्थ हैं। इनका मुख्य रस श्रृंगार है। भाषा, शैली और विषय का निर्वाह प्राय: अन्वितिमूलक है।

बिहारी सतसई का वैशिष्ट्य

भारतीय साहित्य की सुदीर्घ सतसई परम्परा में 'बिहारी सतसई' का अनेक दृष्टियों से प्रामुख्य है। भाषा की सामासिकता, कल्पना की समाहार शक्ति, उक्तिवैचित्र्य, अलंकार वैभव, भावों, रागों और अंगचेष्टाओं का मर्मस्पर्शी चयन तथा सम्प्रेषण बिहारी सतसई में अभूतपूर्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिहारी सतसई के वैशिष्ट्य पर अपना खोजपूर्ण अभिमत प्रकट किया है, यह मत आज भी सर्वमान्य है। "श्रृंगार रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान बिहारी सतसई का हुआ, उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य का एक-एक रत्न माना जाता है।" यह सतसई इतनी लोकप्रिय हुई कि इसकी पचासों टीकाएं रची गयीं।× × ×मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिए, वे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचे हैं। शुक्लजी के ही शब्दों में बिहारी की कल्पनाशक्ति और भाषा की सामासिकता की वरेण्यता दृष्टव्य है—"जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छन्द में इतना

रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं।" भाव व्यंजना और अलंकार व्यंजना के अतिरिक्त वस्तुव्यंजना का भी अनेक स्थलों पर कवि ने ललित प्रयोग किया है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में सतसई साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में बिहारी सतसई सभी दृष्टियों से मूर्धन्य है। प्राकृत एवं संस्कृत से आती हुई इस परम्परा ने हिन्दी में ही अपनी चरम परिणति प्राप्त की, और हिन्दी में भी 'बिहारी सतसई' में।

३

कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति अथवा सफल मुक्तकत्व

जीवन या जगत की प्रगाढ़ अनुभूति की ललित एवं शाब्दिक वैयक्तिक-अभिव्यक्ति ही साहित्य है। यह अनुभूति एक प्रबन्धात्मक रचना में यथेच्छ विस्तार प्राप्त करती है और भाषा तथा शैली को भी अपने अधिकतम वैभव विस्तार की पूर्ण सुविधा प्राप्त होती है। मुक्तक काव्य में भाव, भाषा, शैली, अलंकरण आदि सभी पक्षों पर पर्याप्त अधिकार जिस कवि का होगा वही कवि इस दिशा में सफल हो सकेगा। बिहारी-सतसई मुक्तक काव्य की उत्कृष्टता का श्रेष्ठ उदाहरण है। सर्वप्रथम मुक्तक के लक्षण, उसके तत्त्व और वैशिष्ट्य पर विचार करना आवश्यक है। फिर इन्हीं लक्षणों को हम बिहारी-सतसई में घटित करके सहज ही एक उचित निर्णय प्राप्त कर सकेंगे।

मुक्तक शब्द का अर्थ है—मुक्त, निर्बन्ध, स्वतन्त्र, पूर्वापर सम्बन्ध से रहित। अर्थात् जो रचना स्वयं में पूर्ण हो, रसास्वादन कराने में सक्षम हो, स्पष्ट हो, संक्षिप्त हो और सुगठित हो। अग्निपुराण में मुक्तक के विषय में कहा है—

"मुक्तकं श्लोक एवैक श्चमत्कार क्षमः सताम।"

अर्थात् जो श्लोक अकेले ही सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो, मुक्तक है।

मुक्तक रचना कवित्त, सवैया, चौपाई आदि छन्दों में की जा सकती है। ये छन्द बड़े हैं। कवि को कुछ सौकर्य रहता है। परन्तु दोहे जैसे दो पंक्तियों के लघुतम छन्द में शृंगार रस की रचना करना पर्याप्त कठिन है। अत्यन्त सिद्धहस्त कवि ही यह कार्य कर सकता है।

कुछ विद्वान् प्रबन्ध के सम्मुख मुक्तक को पर्याप्त तुच्छ समझते हैं। प्रबन्ध में लोक-जीवन की पूर्णता, चरित्रों का पूर्ण विकास, घटनात्मकता, क्रमबद्धता आदि बातों के कारण अवश्य ही एक विराटता उत्पन्न होती है। परन्तु उसमें कवि की सामासिकता, भाव-संगठन शक्ति और अनेक विध सुगठित कल्पनाओं

का व्यंजनामूलक चमत्कार कम ही सम्भव होता है। कवि प्रसंग और सन्दर्भों में बद्ध होता है। साथ ही वह विस्तारवादी होने के कारण रचना में भाव-शैथिल्य एवं भाषा-शैथिल्य भी लाता ही है। निष्कर्ष यह है कि कवि का अर्थ विधान और शब्द विधान मुक्तक में पूर्णतया रूपायित हो पाना पर्याप्त कठिन है। कवि के मुक्तक का यदि एक शब्द भी शिथिल हुआ, या भाव लचर या अपरिपक्व हुआ कि उसका समस्त कवि-कर्म व्यर्थ हो जाता है। प्रबन्धकी पूर्ण सर्ग में चार अच्छे छन्द लिखकर भी सफल हो जाता है। अतः मुक्तककार में जितनी अधिक अनुभूति की गहनता, तीव्रता, स्पष्टता और सुसंगठितता होगी और अभिव्यक्ति की पूर्णता, संक्षिप्तता, भाषागत सामासिकता तथा व्यंजना होगी वह उतना ही अधिक सफल होगा। कविवर बिहारी में एक चोटी के मुक्तककार की सभी विशेषताएं अपनी पूर्णता में विद्यमान हैं। वे मुक्तककारों के आदर्श हैं।

कल्पना की समाहार शक्ति

कल्पना की समाहार शक्ति मुक्तक की आत्मा है। यदि मुक्तक रचना का रस-शृंगार है तो कल्पना की समाहार-शक्ति अत्यधिक अपेक्षित होती है, क्योंकि शृंगार में प्रवाह सर्वाधिक होता है। प्रवाह को कल्पना द्वारा बिम्बात्मकता एवं घनत्व प्रदान किए जा सकते हैं। अनुभूति की सघनता और कल्पना की लक्ष्यवेधकता में ही मुक्तक के प्राण निहित हैं।

प्रकृत्या सुन्दरी एवं सज्जिता नायिका के उद्दीपक रूप का यह व्यंजना-प्रधान चित्र कितना प्रभावक है—

खौरि-पनिच, भृकुटी धनुष, बधिकु समर तज कानि।
हनतु तरुन मृग तिलक सर, सुरक भाल भरि तानि॥

ललाट पर लगी खौर प्रत्यञ्चा है, वक्र भृकुटि-धनुष है, तिलक बाण है और सुरक (खड़ी लकीर) भाल अर्थात् नोक है। वधिक काम मर्यादा का उल्लंघन करके युवक मृगों का वध कर रहा है। इस एक ही दोहे में बाण-व्यापार, लक्ष्यवेधन तथा नायक-नायिका की मनगत और आंगिक चेष्टाओं का मोहक वर्णन किया गया है। सांगरूपक अलंकार का निर्वाह किया गया है और प्रायः सभी रसांगों को भी संजोया गया है।

संक्षिप्तता, घनत्व, स्पष्टता और शृंगार रस का यह प्रसिद्ध उदाहरण किसे ज्ञात न होगा? नवयौवना के कज्जल-कलित नेत्रों का सौन्दर्य कैसी व्यंजना के साथ चित्रित किया गया है—

सनि कज्जल, चख झख लगनि, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेश सब देहु॥

ज्योतिष के सिद्धान्त के साथ नेत्र-सौन्दर्य का निर्वाह किया गया है।

और भी—

मंगल बिन्दु सुरंग, ससि मुख, केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

लाल मंगल बिन्दु, मुखचन्द्र और केसर के आड़े तिलक ने एक ही सुन्दरी नारी में एकत्र होकर समस्त जगत को रसमय (जलमय) कर दिया। मंगल, चन्द्र और गुरु का योग वर्षा का कारण होता है। इस सोरठे में श्लेष बल से कवि ने ज्योतिष और शृंगार-रस का निर्वाह किया है।

बिहारी में गहन अनुभूति, गहरी पकड़ और भाव या मनोवेग को रसपिण्ड बना देने की अद्‌भुत क्षमता है। उनके दोहे का एक-एक पद और एक-एक शब्द एक व्यापक कल्पना का पिण्ड है। अधोलिखित दोहे में नवयौवना के मन और विशिष्ट अंगों की गतिविधि का अत्यन्त सजीव चित्रण है।

अरतें टरत न बर परे, दई मरक मनु मैन।
होड़ा होड़ी बढ़ि चले, चित, चतुराई, नैन ॥

यौवन का ज्वार चित्त को पागल बना देता है, लोक लज्जा और चातुर्य उस पागलपन को नियन्त्रित करने का यत्न करते हैं कि नेत्र और भी आगे बढ़कर विद्रोह कर बैठते हैं—बन्धन को चुनौती देते हैं। इस दोहे में नायिका मे प्रस्फुटित यौन-भावना का चित्रण किया गया है। यह चित्रण व्यंग्य है। अनेक अन्तःबाह्य अवस्थाएं एक ही साथ बड़ी कुशलता और सरसता से व्यंजित है।

नायिका की अनुराग व्यंजक चेष्टाएं (हाव) कितनी स्पष्टता, पूर्णता, रसमयता और सामासिकता से रूपायित की गयी हैं! एतदर्थ यह दोहा दृष्टव्य है—

चितई ललचौंहैं चखनु, डटि घूंघट पट मांह।
छल सों चली छुवाय कैं छिनक छबीली छांह ॥

सगमोत्सुकता-व्यंजक मन की चाह किस कौशल और लाक्षणिकता से प्रकट हुई है? कितनी चेष्टाओं और कितने भावों का एक साथ चित्रण किया गया है? घूघट पट में से ललचाकर देखना, डटकर देखना और फिर वेग से भरकर झट से अपनी छाया को छल से नायक से छुलाकर चल देना। मिलन-निमन्त्रण का कैसा रसमय संकेत है? कितनी गहराई का कितने सौष्ठव से चित्रण किया गया है? मन के ऐसे सघन राग का तन की ऐसी सूक्ष्म चेष्टाओं द्वारा व्यंजित होना बिहारी द्वारा ही सम्भव है।

प्रबन्धकार जो बात स्पष्टता, पूर्णता, व्यंजकता और संक्षिप्तता तथा रसमयता के साथ एक पूर्ण सर्ग में भी न कह सकेगा, उसे मर्मी-कवि बिहारी

ने दो पंक्तियों में ही चित्रित कर दिया है। नायिका के अंग-सौन्दर्य का यह अविस्मरणीय, चिरप्रभावकारी अथच सीमातीत आह्लाददायक चित्र है—

झीने पट में झुलमुली, झलकन ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु में, लसत सपल्लव डार।।

पारदर्शक साड़ी में झिलमिलाती हुई नवयौवना की कान्तकाया अपनी असीम आभा का एक संसार ही निर्मित कर रही है। उसके चमचमाते हुए विभिन्न अंग ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कि सागर के स्वच्छ जल में कल्पतरु की सपत्रशाखा ही सुशोभित हो रही हो।

प्रेम की मर्मस्पर्शिनी व्यंजना असंगति अलंकार द्वारा कितनी अनुपम हुई है, प्रस्तुत प्रसिद्ध दोहा इसका ज्वलन्त प्रमाण है—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत।
परति गांठ दुरजन हियें, दई नई यह रीति।।

नेत्रों का उलझना, कुटुम्बों का टूटना, प्रिय हृदयों का एक होना, दुर्जनों के हृदय में कसक होना आदि अनेक क्रियाओं का एक छोटे-से दोहे में अभूतपूर्व सामासिक शैली में चित्रण किया गया है।

ससुराल से नवविवाहिता पितृगृह जा रही है। पति का साथ छूट रहा है अतः वह गहरी पीड़ा का अनुभव करती है, पर साथ ही पिता-माता के पास जा रही है, अतः सुख का भी अनुभव करती है। इन दोनों मनोदशाओं का चित्रण और दुर्योधन की मृत्यु के समय से साम्य ये दोनों अवस्थाएं और घटनाएं कवि की कल्पना की समाहार शक्ति की चरमता सिद्ध करती हैं। यह गागर में सागर ही नहीं, किन्तु बिन्दु में सिन्धु ही है। हो सकता है कोई आयस तीर चूक जाए किन्तु यह नहीं चूक सकता, यह अचूक जो है।

नायिका की रसभरी चेष्टाओं का अद्वितीय बिम्बविधान किस क्रमिकता और सामासिकता से किया गया है, प्रस्तुत दोहे में देखिए—

भौंहनु त्रासति, मुंह नटति, आंखिनु सों लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इंची आंगे आवति जाति।।

भाषा की समास शक्ति

कल्पना की समाहार-शक्ति का निर्वाह तभी सम्भव है जबकि भाषा की सामासिकता पर कवि का अटूट अधिकार हो। शब्दों की आत्मा, उनका ध्वनन, उनका गठन, उनकी व्यापक सम्प्रेषणीयता तथा अर्थवैविध्य और प्रतीकात्मकत आदि सब कुछ कवि में रमा हुआ होना चाहिए। भाषा का सौष्ठव और चुस्ती बिहारी में अद्भुत है। प्रत्येक दोहे का एक-एक शब्द अद्वितीय कौशल और शिल्प की महिमा से ऐसा सुस्थिर एवं अभिराम होकर जमा हुआ है कि उसके स्थान पर किसी अन्य शब्द को रखना असम्भव है। यदि रखा भी जाए तो

रत्न के स्थान पर नगण्य कांच ही होगा। फिर समस्त दोहे का गठन खण्ड-खण्ड होकर बिखर भी जाएगा। बिहारी की भाषा गहन से गहन भाव को, अगचेष्टा को उसकी पूर्ण रसमयता के साथ व्यंजित करने में पूर्णतया सक्षम है—

कहत, नटत, रीझत खिझत, मिलत, खिलत लजियात।
भरे भौंन में करत हैं, नैनन ही सों बात॥

उक्त दोहे में नेत्रों द्वारा बात करते हुए नायक-नायिकाओं की इतनी क्रियाओं का वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। एक-एक क्रिया के द्वारा एक-एक चेष्टा का वर्णन है। किस कौशल से भरे भवन में नेत्रों से बात करायी है कवि न ?

निम्नलिखित दो दोहों में नायिका की कटीली भोंह और दृष्टिपात का अति सामासिक भाषा में वर्णन किया गया है—

नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सोंह।
कांटे-सी कसकति हिये, गड़ी कटीली भोंह॥
कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्योरति बाट।
कच अंगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार॥

एक सम्पूर्ण, सघन मनोभाव के सभी रूपों का चित्रण, एक परिपूर्ण दृश्य-विधान, आलम्बन और आश्रय की क्रिया-प्रतिक्रिया आदि सब कुछ अत्यन्त कसी हुई एवं व्यंजना-प्रधान भाषा में प्रस्तुत किया है। भाषा की प्रेषणीयता एवं सांकेतिकता बिहारी में सर्वोपरि है।

भाषा की व्यंजकता और लाघव की दृष्टि से यह प्रसिद्ध दोहा सदा ही अपना महत्त्व रखेगा—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिंहि बस होत सुजान॥

अनेक अलंकारों की जगमगाहट के साथ श्रृंगारी एवं भक्तिमूलक भावों को चित्रित करने में बिहारी की भाषा ने कमाल कर दिखाया है—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परै, स्यामु हरित दुति होय॥

इस दोहे में पांच अलंकार और तीन अर्थ हैं। राधा के रूप और गुण का व्यापक चित्रण है।

झांई, स्यामु तथा हरित दुति शब्द का, कवि के शब्द-शिल्प का, उसकी चातुरी का अत्यन्त प्रभावक द्योतन कर रहे हैं।

नाद सौन्दर्य और लघु शब्द-विधान द्वारा भी बिहारी ने अपने भाषा-शिल्प के अनेक रम्य रूप प्रस्तुत किए हैं—

मरी, डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि, कराहि अति, अब मुंह आहि न आहि॥

नैकों उहि न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल।
डर तें बास छुट्यौ नहीं, बास छुटेंहू लाल ।।

उक्त दोहों में प्राय: सभी शब्द दो-दो अक्षरों के हैं और कुछ तो एकाक्षरी भी हैं।

भाषागत नाद-सौन्दर्य के माध्यम से भी बिहारी ने अपनी सामासिकता को प्रस्तुत किया है—

रनित भृंग घंटावली, झरित रान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर ।।

इस दोहे में ऐसा शब्द-विधान है जिससे घंटायुक्त हाथी और मन्द मन्द सस्वर पवन के चलने की भव्य सूचना मिलती है।

निष्कर्षत: बिहारी में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की सामासिकता पराकाष्ठा पर है। वे हिन्दी के मुक्तककारों में अपनी अनेक अपराजेय विशेषताओं के कारण सदा अद्वितीय रहेंगे।

४

भाषा

अर्थविधान के समान ही काव्य में शब्दविधान का महत्त्व है। वस्तुतः अर्थविधान से शब्दविधान का महत्त्व अधिक है। दर्शन, विज्ञान, समाजशास्त्र आदि विषयों में अर्थविधान ही मुख्य है, किन्तु काव्य में अर्थ शब्द में रूपायित होकर ही प्रभावशाली एवं चमत्कारी होता है। अर्थ तो एक कच्चा माल है। उसे शब्द की महिमा ही काव्यत्त्व प्रदान करती है। अतः काव्य में भाषा का महत्त्व शीर्ष कोटि का है। भाषा प्रायः भावों की सम्वाहिका शक्ति समझी जाती है; परन्तु वास्तविकता यह है कि भाषा ही भावों को सजीव, ग्राह्य एवं सशक्त बनाती है। शब्द प्रयोग अर्थ में नवता, रमणीयता और भव्यता का लोकोत्तर संचार करता है।

जहां तक काव्य में भाषा के अध्ययन का प्रश्न है, उसे दो प्रकार से समझा जा सकता है—व्याकरण की दृष्टि से और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से। बिहारी की भाषा उक्त दोनों ही कसौटियों पर कुन्दन जैसी खरी सिद्ध होती है।

रससिद्ध कविवर बिहारी की भाषा का उक्त दो दृष्टियों से अध्ययन करने के पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है कि सतसई की प्रतिनिधि भाषा कौन-सी है? उसमें किन-किन भाषाओं का समावेश हुआ है? इस जानकारी के आधार पर हम सुविधापूर्वक कवि की भाषा के सभी पक्षों पर विचार कर सकेंगे और एक सच्चे निर्णय पर पहुंच सकेंगे।

यह निर्विवाद है कि सतसई की प्रतिनिधि भाषा ब्रज है। ब्रज के पश्चात् दूसरी महत्त्वपूर्ण भाषा बुन्देली है और इसके बाद पूर्वी, खड़ी बोली एवं अरबी, फारसी हैं।

जहां तक ब्रजभाषा का प्रश्न है—यह एक लम्बे समय तक काव्य-भाषा रही है। इसका क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत रहा है। यह भाषा इतनी प्रचलित एवं लोकप्रिय थी कि इसमें कविता करने वाले के लिए यह आवश्यक न था कि वह ब्रज में जन्मा हो। सूर के समय तो ब्रज का एक ग्रामीण रूप ही प्रचलित हो पाया था परन्तु बिहारी तक आते-आते वह अत्यन्त परिष्कृत हो गया। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसमें कृत्रिमता का प्रवेश हो गया।

वरन् शुक्ल जी के शब्दों में "बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है।" इससे यह स्पष्ट है कि बिहारी की भाषा सरल एवं सरस है। सतसई ब्रजभाषा में ही है, अतः यहां उद्धरण देकर निबन्ध के कलेवर को बढ़ाना अनावश्यक ही होगा।

बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ और बचपन बुन्देलखण्ड में ही व्यतीत हुआ अतः स्वाभाविक रूप से उन पर बुन्देली का प्रभाव देखा जा सकता है। अपितु बुन्देली उनके काव्य की प्रतिनिधि भाषा होती यदि उस समय इसका साहित्यसर्जन में खुलकर प्रचलन हो गया होता। तो बिहारी की दूध की भाषा तो बुन्देली ही है जिसकी सम्पूर्ण सतसई पर गहरी छाप है। यहां विभिन्न प्रकार के कुछ उद्धरण देना अप्रासंगिक न होगा। लखवी, करवी, भांग, ऐंड़, सैल, खरौट, मोट, पायवी, स्यौं, सौं, चिलक, चिकनई, लौं, सटक, गधि, बीधे, कोद, खैर आदि शब्द बुन्देली हैं। तथा—

मेरी (**मोरी**) भवबाधा **हरौ** राधा नागरि सोइ।
जा तन की **झांई परैं** स्याम हरित दुति होइ॥

इस दोहे के मोटे शब्दों के अतिरिक्त इसकी वाक्य प्रणाली भी बुन्देली है।

वास्तव में सम्पूर्ण सतसई में ब्रज और बुन्देली का मणि-काञ्चन योग है। छोटे-छोटे वाक्य जैसे—को जानें (१५०), घरु-घरु डोलत (१५१), चलि जात (चली जात) (१५२), सालति (सालत) है (६), छल सौं चली (१२) आदि बुन्देली के हैं। ब्रज और बुन्देली की सीमाएं भी एक-दूसरी से मिली हुई हैं अतः बहुत कुछ साम्य स्वाभाविक है।

पूर्वी से आशय प्रायः अवधी से है। बिहारी ने अपनी सतसई में अवधी के शब्दों और क्रियाओं का प्रयोग भी किया है यथा—

स्तन मन नैन नितम्ब कौ, बड़ौ इजाफा **कीन**।२।

× × ×

अब मुंह **आहि** न **आहि**

× × ×

रसमय **किय** लोचन जगत

× × ×

लखें दिगैल **दीन**

उक्त पंक्तियों में मोटे शब्द अवधी के हैं।

जहां तक खड़ी बोली की बात है बिहारी का सम्पर्क मुसलमानी दरबारों से था ही, अतः यह बात भी उनकी भाषा में है। उदाहरणस्वरूप—मेरी, जब जब, तब तब, की, के, जहाँ जहाँ, वह आदि शब्द खड़ी बोली के हैं।

अरबी फारसी के भी बिहारी में पर्याप्त शब्द मिलते हैं जो अपने स्थान पर भाव प्रकाशन में अत्यन्त खरे उतरे हैं। कुछ ये हैं—बकवाद, मुलुक, दरबार, अहसान, इजाफा, खूनी, चसमा, रकम, हमाम, हजार, हद, फतै आदि।

व्याकरण की कसौटी पर

कविवर बिहारी की भाषा सर्वत्र अत्यन्त व्यवस्थित एवं व्याकरण सम्मत है। ब्रज भाषा के व्याकरण की कसौटियों पर खरी उतरती है। "इन्होंने भाषा के क्षेत्र में अपनाये जाने वाले अनेक रूपों पर ध्यान दिया और उसका परिमार्जित ढांचा तैयार कर लिया। इनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रयोग अव्यवस्थित नहीं पाए जाते। बिहारी के पहले किसी भी कवि की भाषा इतनी परिमार्जित और एक-रूप नहीं मिलती।"[1]

ब्रज भाषा के आधार पर स्वर, व्यंजन, कारक एवं क्रियाओं का अध्ययन करने के लिए प्रारम्भ में ब्रजभाषा के व्याकरण की संक्षिप्त रूपरेखा सामने रखना आवश्यक है।

ब्रज भाषा का संक्षिप्त व्याकरण

कारक— कर्ता—नें

कर्म, सम्प्रदान—कुं, कूं, कों, कें

करण, अपादान—सौं, सू, नें, ने

सम्बन्ध—कौ, के, की

अधिकरण—में, मैं, पै, लौं

क्रिया- वर्तमान में—हूं। भूत में—था हतौ

एक वचन	**बहुवचन**	**एक वचन पु०**	**स्त्रीलिंग**
हौं	हैं	हौ, हो	ही
है	हैं	बहु व०—हे, हैं	हीं

भविष्यत्—मैं मारूंगा

एक वचन	**बहुवचन**
[2]मारिहौं, मारे हों, मारूंगौ, मारोंगौ	मरि हैं, मारै हैं, मारेंगो
[3]मारि है, मारै है, मारैगौ	मारिहौ, मारै हौं, मारौगे

---

१. बिहारी मीमांसा, ले० डा० राम सागर त्रिपाठी, पृ० २९०।
२. भोजपुरी भाषा और साहित्य, डा० उदय नारायण तिवारी।
३. ब्रज भाषा व्याकरण, डा० धीरेन्द्र वर्मा।
इन ग्रंथों से सहायता ली गई।

आज्ञार्थक क्रिया—मार, मारहि, मारि।

अतीत क्रियाबोधक विशेषण (पास्ट पार्टीसिपल) भयौ, दियौ।

भविष्यत्—दै हौं, पैऊंगौ

संज्ञा तथा विशेषण 'ओ' या 'औ' प्रत्यय से बनते हैं—

कारौ, पीरौ, घोड़ो आदि।

संज्ञा का बहुवचन 'न' लगाकर बनाया जाता है—राजन, हाथिन, घोड़न अदि।

व्याकरण की इन सभी कसौटियों पर बिहारी की भाषा खरी उतरती है। उनकी सतसई का कोई भी दोहा इसके लिए उद्धृत किया जा सकता है।

भाषा की सरसता और ब्रज भाषा की क्रियाओं का इतना व्याकरण सम्मत एवं प्रभावक रूप अन्यत्र कहां मिलेगा ?

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुरचित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

भाषा पर बिहारी का शतप्रतिशत अधिकार था। वह उनके संकेत पर सदा नर्तित होती है। भावों का इससे अच्छा और किस भाषा में सम्प्रेषण होगा !

ललन चलन सुनि पलन में, अंसुआ छलके आई।
भई लखाइ न सखिन्ह हू, झूठै ही जमुहाइ॥

"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रज भाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंगभंग किया है और कहीं-कहीं गलत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत-कुछ मुक्त है।"[१] बिहारी की भाषा में एक ओर यदि पाणिनि की सूत्र शैली विद्यमान है तो दूसरी ओर उसमें अर्थ की गहनता और भावबिस्तार भी अपनी पूर्णता में निहित हैं। इतनी चुस्त, चलती हुई एवं सरस भाषा अन्यत्र दुर्लभ है।

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही कहा है कि "इतनी ठोस या प्रौढ़ भाषा लिखने वाला हिन्दी में दूसरा कवि नहीं हुआ। जैसी सशक्त भाषा बिहारी ने लिखी है, वैसी भाषा लिखने वाले तो दूर रहे, उल्टे भाषा को बिगाड़ने वाले ही पैदा हो गये।"

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २४१।

कविवर बिहारी की भाषा के अनेक गुणों को अधस्तन शीर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता है—

१. व्याकरण सम्मत।
२. समासबहुला।
३ अलंकारमयी।
४. सरस।
५. मुहावरे और लोकोक्तियां।
६. लाक्षणिक प्रयोग।
७. बुंदेली, उर्दू, फारसी शब्दों का प्रयोग।
८. ध्वन्यात्मकता या नाद सौन्दर्य।
९. प्रवाहात्मकता।
१०. पदमैत्री।

१. **व्याकरण सम्मत**—व्याकरण की दृष्टि से चर्चा की जा चुकी है। बिहारी की भाषा प्रायः सर्वत्र शुद्ध एवं व्याकरण सम्मत है। क्लिष्टता, दुरुहता, ग्राम्यत्त्व एवं अश्लीलत्त्व आदि दोषों से दूर है।

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥
अजों तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास बेसर लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥

उल्लिखित दोहे व्याकरण की सभी कसौटियों पर खरे उतरते हैं। सौन्दर्य और व्याकरण का निर्वाह प्रायः कठिन होता है, पर बिहारी इसमें पूर्ण सफल हैं। उक्त दोहों में शब्द, वाक्य और कारक प्रयोग दर्शनीय हैं।

२. **समासबहुला भाषा**—गंभीर और विराट् भावों को अत्यन्त चुस्त और थोड़े शब्दों में पूर्णता के साथ कहने की शक्ति बिहारी में अद्भुत है। बिहारी श्रृंगार रस के कवि हैं, अतः छोटे-छोटे समासों को ही उन्होंने अपनाया है। भाव व्यंजना के लिए भी यही उपयुक्त भी है। प्रायः बिहारी के समास तीन-चार पदों के लम्बे हैं। समास से भाषा में कसाव तथा भावों में भी गठन आ गया है। समासों से भावों की व्यंजना में कहीं भी विकार या अवरोध नहीं आ पाया है। अधस्तन दोहे दृष्टव्य हैं—

विकसति नवमल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाइ।
परास पजारति बिरह हिम, बरसि रहे की बाइ।
समरस समर सकोच बस बिबस न ठिक ठहराइ।
फिर फिर उझकति, फिर दुरति, दुरि दुरि उझकत आइ॥

बिहारी के समासों में सरलता और प्रवाह भी है। इससे व्यंग्य और अधिक मोहक हो जाता है—

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर ।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंद समीर ॥

दोहे जैसे छोटे छंद में रस और भावों की तीव्र तथा विशाल धारा भरने के लिए बिहारी ने समास शैली को अपनाया। गागर में सागर ही नहीं बिहारी बिन्धु में सिन्धु भर सके हैं—

सोहति धोती सेत में, कनक बरन तन बाल ।
सारद बारद बीजुरी भा, रद की जति लाल ॥

३. **अलंकारमयी**—सुन्दर अलंकृत होकर सुन्दरतम हो जाता है। बिहारी के दोहे प्रायः अलंकारों के आकर हैं। अलंकार विधान में भाषा का वरेण्य योग रहा है—

श्लेष, अनुप्रास—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परै, स्यामु हरित दुति होय ॥

यमक—

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
जा खाएं बौराय नर, वा पायें बौराय ॥

विरोधाभास—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहीं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्यामु रंग, त्यों त्यों उज्ज्वल होय ॥

४. **सरस**—बिहारी रससिद्ध कवि हैं। उनकी भाषा ने उनकी रस धार को लोकोत्तर शरीर प्रदान किया है। भाषा की पिचकारी से रस की धार सर्वत्र अति मोहक होकर ही प्रकट हुई है। श्रृंगार रस के अनुरूप ही सर्वत्र कवर्ग एवं चवर्ग का तथा कोमल स्वरों का प्रयोग हुआ है। टवर्ग एवं अन्य कर्णकटु शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं किया गया है।

अरुन बरन तरुनी चरन, अंगुरि अति सुकुमार।
चुवति सुरंग रंग सी मलै, चंपि बिछयन के भार ॥

× × ×

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करे भौंहन हंसै, दैन कहै नट जाइ ॥

५. **मुहावरेदार**—मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में सजीवता और शक्ति का संचार होता है। रस धार और भी तीव्र हो जाती है।

बिहारी ने अनेक प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का अत्यन्त औचित्यपूर्ण प्रयोग किया है। यथा—

१. गैंड़ी दै गुन राबरे कहति कलैंड़ी डीठि।

२. पीनस बारौ जो तजे, सोरा जानि कपूर।

३. खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै, अली अली जिय जानि॥

४. धुर मुकति मुंह दीन

५. मूड़ चढ़ाए हूं रहे, परयौ पीठि कच भारु।
रहै गरै परि राखिबौ, तऊ हिये पर हारु॥

६. **लाक्षणिक प्रयोग**— लाक्षणिक प्रयोगों में भी बिहारी सिद्धहस्त हैं। उनकी भाषा सर्वत्र तीर की भांति सधे हुए, सीधे और लाक्षणिक प्रयोग करती है।

कचनार और हार पर किये गये लाक्षणिक प्रयोग का एक उदाहरण—

मूड़ चढ़ाए हूं रहे, परयौ पीठि कच भारु।
रहै गरै परि राखिबौ, तऊ हिये पर भारु॥

कई लोकप्रिय लाक्षणिक प्रयोग एक ही दोहे में प्रयुक्त हुए हैं—

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

और भी—

खरी पातरी कान की, कौन बहाउ बानि।
आक कलि न रली करै, अली अली जिय जानि॥

७. **अन्य भाषाएं**—कविवर बिहारी ने प्रमुख रूप से ब्रज भाषा में ही सतसई का सृजन किया है, किन्तु साथ ही बुंदेली, अवधी तथा फ़ारसी और उर्दू के भी अनेक शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़ी स्वाभाविकता से किया गया है। बुन्देली भाषा तो बिहारी की मातृभाषा थी अतः उसका ललित प्रयोग तो स्वाभाविक ही है।

पूर्वी एवं अवधि के प्रयोग—दीन, कीन, लीन, आहि, लजियात, जेहि, केहि।

बुन्देली प्रयोग—खैंर, लखबी, करबी, पायबी, लाने, कोद, मरोर, चाल आदि।

कई दोहे पूर्णतया ही बुन्देली भाषा में रचे गये हैं—

चिलक चिकनई चटकस्यों, लफति सटक लों आइ।
नारि सलोनी सांवरी, नागिन लों डसि जाइ॥

उर्दू, फारसी—मुसलमानों का राज्यकाल था, अतः उर्दू का वातावरण था ही। उसका प्रभाव भी बिहारी पर पड़ा ही था। सतसई में अनेक शब्द

उर्दू और फारसी के प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—इजाफा, खूबी, खुशहाल, अदब, हृद, पायन्दाज, बरजोर, हुकम आदि।

८. **ध्वन्यात्मकता या नाद सौन्दर्य**—ध्वन्यात्मकता या नाद सौन्दर्य के लिए बिहारी हिन्दी काव्य जगत में विख्यात हैं। इस दिशा में उनका वैशिष्ट्य निर्विवाद है।

नायिका की रसभरी अंग चेष्टाओं का ध्वन्यात्मक वर्णन प्रस्तुत दोहे में दृष्टव्य है—

वतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सोंह करे, भोंहनि हंसै, दैनि कहै नटि जाय॥
अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

यह नेत्र सौन्दर्य का चित्र अपनी ध्वन्यात्मकता में अद्वितीय है—"**औरै कछू**' के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की ओर इंगित है।

पदमैत्री और नादसौन्दर्य को अनुप्रास के साथ कैसा सजाया है—

कहत, नटत, रीझत खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सौं बात॥
रस सिंगार मंजन किये, कंजन, मंजन दैन।
अंजन, रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन॥
रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

९. **प्रवाहात्मकता**—दोहे जैसे छोटे छंद में और जबकि काव्य मुक्तक शैली में रचा गया हो, तो प्रवाह की संभावना प्रायः नहीं रहती है। बिहारी ने इन सीमाओं के होते हुए भी प्रवाह की लोकोत्तर सृष्टि की है। कवि की रस धार एवं प्रवाहात्मकता की अनेक मर्मज्ञों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। शुक्ल जी ने हर दोहे को रस की पिचकारी ही कहा है। रस प्रवाह का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

मुखु उघार पिउ लखि रहत, रह्यौ न गौ मिस सैन।
फरके औंठ, उठे पुलक, गये उघार जुरि नैन॥

नायक नायिका की प्रेममयी चेष्टाएं व्यंजित हैं। नायिका सोने का बहाना कर रही थी कि ओष्ठ फड़क उठे। बस दोनों के नेत्र मिल गये।

निष्कर्षतः बिहारी की भाषा सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ है। व्याकरण और सौन्दर्य की विरोधी कसौटियों पर भी वह खरी उतरती है। "बिहारी का भाषा पर सच्चा अधिकार था। बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए। भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा ही अधिकार

रखने वाला कोई मुक्तककार नहीं दिखाई पड़ता।"[1] "उनकी भाषा परम परमार्जित तथा सश्रृंखल है।"[2] "बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूप का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है।"[3] यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है।

---

१. बिहारी की वाग्विभूति, ले० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १७२।
२. कविवर बिहारी, ले० श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० ११३।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २४१।

५

शृङ्गार वर्णन

रससिद्ध कविवर बिहारी मूलतः एवं अन्ततः शृंगार रस के कवि हैं। शृंगार रस, सौन्दर्य एवं यौवन बिहारी के काव्यमसनस में अपनी पूर्णता के साथ तरंगित हो रहे हैं। काव्य का लक्ष्य आनन्द प्रदान करना है और आनन्द भावना में है और भावना हृदय में ही जन्मतां एवं विकसित होती है। हृदय में मानव कुछ चिरकालिक संस्कारज स्थायी भावों को संचित किए रहता है। ये भाव ही अन्ततः परिपुष्ट होकर रसरूप हो जाते हैं। अतः जो काव्य मानव के इन रागात्मक भावों का जितना अधिक उद्घाटन करेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ कहा जाएगा। काव्य में रस ही प्रमुख है। रस ही काव्य की आत्मा है। रसों में भी शृंगार रस ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली है। शृंगार रस में मानव की अधिकाधिक आन्तरिक एवं बाह्य वृत्तियां रमती हैं। अन्य सभी रस इस रस के अंग बनकर इसमें समा सकते हैं। सभी संचारी इसमें आते हैं। इस रस का क्षेत्र समस्त मानव जाति तो है ही, किन्तु इससे भी बढ़कर समस्त प्राणिमात्र में भी इसका पूर्ण प्रभाव देखा जाता है। यही कारण है कि शृंगार को रसराज कहा जाता है। शृंगार रस का स्थायी भाव रति अर्थात् प्रेम है और प्रेम का क्षेत्र सभी मनोविकारों में व्यापकतम है। हृदय की अधिकतम भावनाएं इसमें आ जाती हैं। शृंगार की विराटता के कारण उसके संयोग और वियोग नामक दो पक्ष हैं। अन्य किसी रस का ऐसा बहुमुखी विस्तार नहीं है। प्रेम मानव में एक विश्वजनीन रागात्मकता का संचार करता है जो किसी अन्य भाव द्वारा आंशिक रूप से ही संभव है। संसारभर के साहित्यिक ग्रन्थों में से एक भी ऐसा न मिलेगा जिसमें इस रस का अभाव हो। कोई कलात्मक ग्रन्थ अनिवार्यतः रागात्मक-रसात्मक होगा ही। किन्तु शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों का जैसा लालित्यपूर्ण एवं प्रभावक चित्रण बिहारी ने किया है, वैसा हिन्दी साहित्य में अन्यत्र प्राप्य नहीं है।

शृंगार रस के सभी पक्षों का—उनकी विभिन्न अवस्थाओं का अत्यन्त मोहक एवं सजीव वर्णन कवि ने किया है।

प्रथमतः बिहारी के शृंगार रस के संयोग पक्ष के वैशिष्ट्य का विवेचन

प्रस्तुत है। सामान्यतः संयोग वर्णन के चार अंग किये जा सकते हैं।—

१. रूप वर्णन [अंग-प्रत्यंगों का चित्रण]
२. प्रेम व्यापार, माधुर्य।
३. नायिका भेद कथन।
४. अनुभाव, हाव आदि।

१. रूप वर्णन

अंग-प्रत्यंगों का मनोनुकूल गठन ही सुन्दरता है। परन्तु सुन्दरता मूलतः वस्तुमूलक ही है और वह दृष्टा को अपने चरमकोटि के रूप और आकार से ही आकृष्ट करती है, उसके मन पर छा जाती है। लोकोत्तर एवं अभिराम रूप को देखकर, छूकर, सुनकर, सूंघकर और अनुभव करके मन में जिस भाव का उदय एवं प्रस्फुटन होता है वह प्रेम है। अतः प्रेम का आलम्बन रूप है किन्तु रूप भी किसी चैतन्यमयी एवं भावभरिता का ही पूर्णतया उद्वेलक एवं प्रभावक हो सकता है। अर्थात् प्रेम का रूपात्मक आलम्बन सजीव एवं स्वयं भी प्रेममय होना चाहिए। बिहारी ने ऐसे ही पराकोटि के रूप के अनेक मर्म-स्पर्शी चित्र प्रस्तुत किये हैं। समस्त अंगों में नेत्र रूप, आकार, सज्जा, चंचलता विशिष्ट स्थिति एवं भावव्यंजकता के कारण सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं। इनका प्रभाव दृष्टा पर अत्यल्प समय में अधिकतम पड़ता है।

चितवन का यह लोकोत्तर चित्रण अपनी व्यञ्जकता में सदा अग्रणी ही है—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान॥

किसी नवयौवना के श्रृंगार भावना में निमज्जित प्रफुल्ल एवं विशाल नेत्रों का यह चित्र कितना लोमहर्षक है—

रस सिंगार मज्जन किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खंजन गंजन नैन॥
बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैंन।
हरिनीके नैनान तैं, हरि नीके ये नैन॥

केशों की सुन्दरता का प्रभाव भी विशिष्ट ही होता है। अपनी सभी विशेषताओं से युक्त केश दृष्टा को पागल बना ही देते हैं —

सहज सुचिक्कन स्याम रुचि, सुचि सुगन्ध सुकुमार।
गनतु न मनु पथ अपथु, लखि बिथुरे, सुथरे बार॥
कच सिमेटि कर भुज उलटि, खये सीस पट टारि।
काकौ मन बांधै न यह, जूरो बांधन हारि॥

रूप सौन्दर्य के सम्मुख अलंकरण की हीनता का दिग्दर्शन कितना उपयुक्त एवं प्रभावक है –

मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पौंछन कों करे, भूषन पायंदाज॥

निसर्गतः सुन्दर व्यक्ति को कृत्रिम सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं—

भूषन भार सम्हारिहै, क्यों ये तन सुकुमार।
सूधे पांय न परत हैं, शोभा ही के भार॥

अंगुलियों की लालिमा और कोमलता का भावपूर्ण वर्णन दृष्टव्य है—

अरुन बरन तरुनी चरन, अंगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरंग रंग सी मनौ, चपि बिछुअन के भार॥

पारदर्शक साड़ी में नायिका की समस्त चंचल अंगलता कितनी दिव्य लगती है—

झीने पट में झिलमिली, झलकत ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु में लसत सपल्लव डार॥

इसी प्रकार कपोल, मुख, नासिका, ओष्ठ, कुच तथा नाभि आदि अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। नायिका के इस नखशिख वर्णन में बिहारी की दृष्टि केवल बाह्य सौन्दर्य पर ही नहीं रही है, अपितु उसके मानसिक तीव्र प्रभाव को भी उन्होंने व्यंजित किया है। अतः बिहारी का रूप वर्णन अधिकाधिक सजीव एवं प्रभावक सिद्ध हुआ है। बिहारी भी अन्ततः रूप के अगाध प्रभाव से मुग्ध होकर और उसे शब्दातीत अनुभव कर यही कह सके—

लिखनि बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

२. प्रेम व्यापार या माधुर्य

रूपमय चैतन्य आलम्बन दृष्टा या आश्रय के मन में प्रेम को जागृत करता है और उसे क्रमशः अधीर चेष्टाओं में भी लपेटता है। सौन्दर्य की पराकाष्ठा उसके सजीव स्पन्दनपूर्ण एवं प्रेषणक्षम होने में है। अतः मानवीय सौन्दर्य ही सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा सौन्दर्य ही मानव के उस शृंगारी मनोराग को उभारता है जो प्रेम नाम से अभिहित है। प्रेम के उदय, विकास और चरम का बिहारी ने अति सप्राण वर्णन किया है।

नायिका के तीक्ष्ण एवं विशाल नेत्रों ने नायक को मंत्रमुग्ध कर दिया है। वह अपनी उसी मनस्थिति का संकेत देता है—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

राधाकृष्ण का स्वाभाविक प्रेम कितना घटनाजन्य एवं आकस्मिक भी था, प्रस्तुत ललित दोहे में व्यंजित है—

उन हरकी हंसि कैं इतै, इन सौंपी मुस्काइ।
नैन मिले मन मिलि गये, दोऊ मिलवत गाइ ॥

अपने प्रियतम का उपहार कितना प्राणप्रिय होता है इसे नायिका की इन चेष्टाओं द्वारा सहज ही समझा जा सकता है—

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूंबति, चाहति लाई उर, पहरति, धरति, उतारि ॥

कटाक्ष आदि से प्रेम में तीव्रता की मात्रा बढ़ जाती है—प्रेमी के विह्वल मन का चित्र प्रस्तुत है—

दृगन लगत वेधत हियो, विकल करत अंग आन।
ये तेरे सबतें विषम, ईछन, तीछन बान ॥

प्रेम की चरम अवस्था में प्रियप्रिया में अभेदत्त्व स्थापित हो जाता है। तब वे एक-दूसरे से कभी एक क्षण के लिए भी पृथक् होना पसन्द नहीं करते। वे नरक की भी चिन्ता नहीं करते।

पिय के ध्यान गही गही, रही बही ह्वै नारि।
आपु आपु ह्वै आरसी, लखि रीझति रिझवारि ॥

× × ×

जो न जुगति प्रिय मिलन की, धूर मुकति मुंह दीन।
जो लहिए संग सजन तौ, धरक नरक हू की न ॥

इसी प्रकार आंखमिचौनी, जलक्रीड़ा, प्रियप्रिया का मिलन, स्वभाव वर्णन, हास-परिहास आदि द्वारा प्रेम के मधुर एवं रंगीन चित्र प्रस्तुत किये गए हैं।

३. नायिका-भेद कथन

नायिका-भेद कथन द्वारा शृंगार रस के संयोग पक्ष के उद्‌घाटन एवं पोषण में अधिक सहायता मिलती है। नायिका-भेद कभी अवस्था के आधार पर, कभी रुचि के आधार पर, कभी सज्जा के आधार पर, तो कभी नायक से सम्बन्ध के आधार पर किये जाते हैं। प्रेम के आधार पर नायिकाओं के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा ये तीन भेद किए जाते हैं। ये तीन भेद शृंगार रस के काव्य में और विशेषतः बिहारी के काव्य में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। मुग्धा में प्रेम का अंकुरण अर्थात् आविर्भाव है, मध्या में उसका बहुमुखी प्रसार एवं प्रौढ़ा में वह चरमावस्था को प्राप्त करता है। अंकुरण से चरमावस्था पर्यन्त प्रेम किस प्रकार अनेक स्थितियों को पार करता है और परिपक्व हो जाता है यही बात इन भेदों द्वारा व्यंजित है। मुग्धा की वयगत सुकुमारता,

नवता और अवोधता नायक के आकर्षण का प्रमुख कारण होती है।

लजाती हुई मुग्धा की रसभरी बड़ी-बड़ी रतनारी आंखें उसे प्रिय के प्राणों की मणि बना ही देंगे—

औरै ओप कनीनकनु, गनी धनी सरताज।
मनौ धनी के नेह की, बनी छती पट लाज॥

नवयौवन संचरिता एवं लज्जाशीला किशोरी ही मुग्धा है। इन्हीं लक्षणों को प्रस्तुत ललित दोहे में स्पष्ट किया गया है।

भावकु उभरौंहों भयौ, कछुक परयौ भरुआइ।
सीप हरा कैं मिसि हियौ, निसिदिन हेरत जाइ॥

मध्या नायिका वह है जिसमें लज्जा और काम समान रूप से विद्यमान हों—

पति रति की बतियां कहीं, सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाइ॥
प्रियतम दृग मिहचत प्रिया, पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि आजन लौं, नैकु न होति लखाइ॥

प्रौढ़ा नायिका में लज्जा न्यून होती है और काम अत्यधिक होता है। वह रति कला में अति दक्ष भी होती है—

बिंहसि बुलाई, बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय चूम्यौ मुंहु चूमि॥
छिनकि चलति, ठठुकति छिनक, भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जु छटा सी नारि॥

बिहारी ने इस प्रकार नायिका-भेद वर्णन द्वारा भी प्रेम और संयोग शृंगार का विशद चित्रण किया है। इन चित्रणों में रूढ़िबद्धता होने पर भी मौलिकता की कमी नहीं है। प्रस्तुतीकरण की नवता भी बिहारी का अपना वैभव है ही।

४. अनुभाव, हाव आदि

शृंगार-रस के संयोग पक्ष के निरूपण में अनुभावों और हावों का विशेष महत्त्व है। इनसे रस में प्रेषणीयता, बिम्बात्मकता और स्पष्टता तथा विश्वसनीयता के साथ सजीवता का संचार होता है। आश्रयगत आंगिक चेष्टाएं अनुभाव हैं और आलम्बन (नायिका) की काममूलक आंगिक चेष्टाएं हाव कहलाती हैं। नायिका जब आश्रय होती है तो उसकी आंगिक चेष्टाएं भी अनुभाव के अन्तर्गत आ जाएंगी। रूप-वर्णन, प्रेम-व्यापार तथा नायक-नायिका भेद के अन्तर्गत अनुभाव, हाव आदि का भी चित्रण हो ही जाता है, किन्तु

स्पष्टता के निमित्त यहां दो-तीन ललित उदाहरण प्रस्तुत हैं।

कायिक, वाचिक, सात्त्विक और अहार्य के रूप में चार प्रकार से अनुभावों का चित्रण होता है। बिहारी ने उक्त सभी प्रकारों का व्यंजनापूर्ण चित्रण किया है—

कायिक : कहा लड़ैते दृग करे, परे हाल बेहाल।
कहुं मुरली कहुं पीतपट, कहूं मुकुट बनमाल॥

वाचिक : सकत न तुव ताते वचन, मोरस को रस खोइ।
खिन-खिन ओटे खीर लौं, खरौ सवारिल होइ॥

सात्त्विक : सात्त्विक भावों को व्यक्त करने में कायिक एवं वाचिक चेष्टाएं अपेक्षित नहीं होतीं। हृदय की अवस्था निश्चेष्ट शरीर द्वारा स्वतः व्यक्त हो जाती है।
मैं यह तोही में लखी, भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जुभौ, तनु कदम्ब की माल।

अहार्य : जब नायिका अपने भाव को अलंकरण द्वारा प्रिय के सम्मुख प्रकट करती है, तब वह अहार्य अनुभाव कहलाता है।
लसतु सेन सारी ढक्यौ, तरल तरयौना कान।
परयौ मनौ सुरसरि सलिल, रवि प्रतिबिम्ब बिहान॥
चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता बिमल जल, उछरत जुग मीन॥
मंगल बिन्दु सुरंगु, मुख ससि, केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत॥

स्पष्ट है कि रससिद्ध कविवर बिहारी का अनुभाव वर्णन रूढ़ एवं शास्त्रीय न होकर स्वाभाविक है, वह वाच्य न होकर व्यंग्य है और शिथिल न होकर सुगठित तथा सम्प्रेषणमय है।

हावों के चित्रण में भी बिहारी ने अपनी रससिद्धता का पूर्ण परिचय दिया है। चित्त की निर्विकार अवस्था सत्त्व है। सत्त्व का प्रथम स्पन्दन भाव है। यह भाव आलम्बन के साहचर्य से ही जागता है। जब यह भाव तीव्र होकर आभिलाषिक वेग से भर जाता है और भ्रकुटि, नेत्र तथा ओष्ठ चालन आदि से अपना लघु संकेत देता है, तब वह हाव हो जाता है। हाव सूक्ष्म एवं सांकेतिक ही होता है। वह स्थूल एवं स्पष्ट होकर 'हेला' बन जाता है। हावों के चित्रण में वस्तुतः बिहारी अपने अन्य चित्रणों से भी आगे हैं।

त्रिबली नाभि दिखाई, कर सिर ढकि सकुच समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि॥

कंज नयनि भंजनु किये, बैठी व्योरति बार।
कच अंगुरी बिच दीठी दैं, चितवनि नन्द कुमार॥
बत रस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहन हंसै, दैन कहै नटि जाइ॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौंन में करत हैं, नैनन ही सौं बात॥

वियोग वर्णन

श्रृंगार का रसराजत्व उसके संयोग पक्ष की अपेक्षा वियाग पक्ष पर अधिकाधिक निर्भर है। संयोगावस्था में प्रेमी-प्रेमिका विभिन्न केलियों द्वारा मधुर रस का आस्वादन करते हैं। संयुक्तावस्था में रति भावना का डटकर पोषण एवं विस्तार होता है। संयोग के समय प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे से इतने अभिन्न हो जाते हैं कि उन्हें शेष जगत का प्रायः बोध ही नहीं रहता। उनमें भोगगत सघनता आ जाती है। प्रत्यक्ष और अनुभूतिजन्य आनन्द ही सच्चा है। उसका प्रभाव भी पर्याप्त होता है क्योंकि वह ऐन्द्रिक है—स्थूल है—दृश्यात्मक है, अतः उसमें चित्तवृत्तियों का सहज एवं अनायास निमज्जन हो जाता है। संयोग के सम्बन्ध में उक्त बातें सच हैं, परन्तु वे सीमित आनन्द का ही पोषण करती हैं। वियोग में ही प्रेम की तीव्रता और वास्तविकता सम्मुख आती है। विरह ही हमारी संकीर्णता और ऐकान्तिकता को दूर कर हमें एक विराट् पटभूमि प्रदान करता है। कोमलता और अनुभूति की गहराई वियोग में ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है। वियोग में ही अखिल मानव-जाति की वृत्तियों का सामञ्जस्य संभव होता है। विरहावस्था में हृदय की पूर्ण उदारता, प्रेम की एकनिष्ठता और अनुभूति की गंभीरता का जैसा प्रस्फुटन होता है, वैसा संयोगावस्था में कदापि संभव नहीं। संयोगी एकाकी ही सुख भोगता है, हंसता है, क्रीड़ा करता है; पर वियोगी के साथ सारा जगत रोता है और तारतम्य का अनुभव करता है। सच्चे प्रेम की कसौटी संयोग नहीं वियोग के कटु एवं दीर्घ क्षण ही हैं। वियोग की अग्नि में प्रेम की मलिनता नष्ट हो जाती है। विरह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। स्पष्ट है कि मानव-चरित्र की, उसकी रागवृत्तियों की पूर्णता का उद्‌घाटन एवं विस्तार वियोग में—पीड़ा के असह्य क्षणों में ही होता है, अतः संसार के सभी कवियों ने श्रृंगार के वियोग पक्ष को ही प्रधानता दी है। वियोगावस्था में प्रेम का भोग नहीं होता है अतः वह राशिभूत हो जाता है और समस्त संसार को अपनी अनुभूति में आवृत्त कर लेता है। कच्चा और वासनाजन्य प्रेम वियोग में क्षीण हो जाता है,

पर, सच्चा प्रेम वियोग में अधिकाधिक घनीभूत एवं स्थिर हो जाता है।

विप्रलम्भ श्रृंगार के चार भेद हैं—

१. पूर्वराग

२. मान

३. प्रवास

४. करुण

पूर्वराग वियोग तब होता है जबकि प्रिय का संयोग होने के पूर्व उसके दर्शन या गुणश्रवण आदि से उससे संयोग की तीव्र अभिलाषा होती है और मिलन न हो पाने के कारण असह्य वेदना या बेचैनी का अनुभव होता है। भावजन्य वियोग में नायक-नायिका एक-दूसरे से ईर्ष्यावश अथवा किसी प्रेम-वृत्ति के आधार पर रुष्ट हो जाते हैं। पति या प्रिय के कार्यवश या शापवश विदेश चले जाने पर प्रवास-वियोग होता है। इसमें प्रिय मिलन की आशा रहती है परन्तु करुण वियोग में मृत्यु के बाद भी मिलने की आशा रहती है।

पूर्वराग में पूर्वानुभूति का अभाव है तथा उत्कट अभिलाषा मात्र होती है, अतः वेदना विस्तार की संभावना कम रहती है। उसमें गम्भीरता भी नहीं आ पाती। अतः वियोग का एक अंग होने पर भी यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। फिर इसमें प्रियतम की स्मृतियां भी नहीं हैं, अतः यह और भी एकांगी होगा। मान तो क्षणिक ही होता है। वह तो प्रगाढ़ मिलन की एक पूर्वावस्था ही है। उसे तो एक प्रकार से एक मोड़ में अटका हुआ संयोग प्रवाह ही मानना चाहिए। मान काल में मिलन नहीं होता अतः उसे वियोग माना गया है। इसमें भी वेदना की तीव्रता सम्भव नहीं है अतः कवियों ने इसका वर्णन प्रायः नहीं किया है। इसी प्रकार करुण-वियोग में दैवी चमत्कार आदि के कारण स्वाभाविकता का अभाव रहता है। वह सहज और विश्वसनीय न होने के कारण प्रभावशाली नहीं होता। अतः कवियों ने इसका भी वर्णन कम ही किया है। हिन्दी में तो करुण विप्रलम्भ का प्रायः अभाव ही है। निष्कर्षतः प्रवास वियोग ही ऐसा है जिसमें वियोग की सभी दशाएं देखी जा सकती हैं। यह वियोग सहज, सम्भव, व्यापक और तीव्र होता है। इसमें मानवीय रागों के अनेक रूप प्रकट होते हैं। बिहारी ने वियोग के सभी पक्षों का निर्वाह किया है। शारीरिक और मानसिक दशाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। मानसिक दशाएं काम दशाएं ही हैं। काम दशाएं दस हैं—१. अभिलाषा, २. चिन्ता, ३. स्मृति, ४. गुण कथा, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. जड़ता, १०. मरण। प्रवास वियोग की भी दस स्थितियां या अवस्थाएं होतीं हैं—१. मलिनता, २. सन्ताप, ३. पीलापन, ४. कृशता, ५. अरुचि, ६. अधैर्य, ७. अनवलम्ब, ८. तन्मयता, ९. उन्माद, १०. मूर्च्छा।

प्रवास वियोग की ये अवस्थाएं वस्तुतः शारीरिक एवं मानसिक स्थितियां ही हैं। इन सभी अवस्थाओं का साहित्य में दो पद्धतियों द्वारा वर्णन होता है— ऊहात्मक तथा संवेदनात्मक। ऊहात्मक पद्धति में अस्वाभाविकता से भरी अत्युक्ति होती है और संवेदनात्मक में मर्मस्पर्शिता। बिहारी ने वियोग की उक्त दोनों ही पद्धतियों का बड़ी कुशलता एवं प्रभावुकता से चित्रण किया है। दर्शनजन्य पूर्वानुराग का व्यंजक यह दोहा दृष्टव्य है—

हरि छबि जल जबतें परे, तब ते छिनु बिछुटैंन।
भरत, ढरत, बूढ़त, तरत, रहत घरी लों नैन।।

पुनश्च—

रही अचल सी ह्वै मनौ, लिखी चित्र की आहि।
तजै लाज डर लोक कौ, कहौ विलोकत काहि।।

पूर्वराग और मान का बिहारी ने वर्णन अधिक नहीं किया है। प्रणयमान और ईर्ष्यामान के भेद से मान दो प्रकार का होता है। प्रणयमान प्रेमाधिक्य के कारण होता है और ईर्ष्यामान नायक का किसी परकीया से सम्बन्ध का ज्ञान होने पर होता है। खण्डिता, कलहान्तरिता आदि नायिकाएं ईर्ष्यामान के अन्तर्गत ही आती हैं।

प्रणयमान—

सोवत लखि मन मान धार, ढिंग सोयो प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलति मिलि, तिय हिय सों लपहार।।
दोऊ अधिकाई भरे, एकें गो गहराई।
कौन मनावै को मनै, मानै मन ठहराई।।

ईर्ष्यामान—

नख रेखा सोहे नइ, अरसोंहें सब गातु।
सौंहें होत न नैन ए, तुम सौंहें कत खात।।

प्रवास वियोग का ही बिहारी ने अपनी सतसई में अधिक वर्णन किया है। इस वियोग में ही तीव्रतम वेदनानुभूति सम्भव है। संयुक्त अवस्था में शारीरिक सान्निध्य मुख्य हो जाता है, जबकि वियुक्तावस्था में मानसिक संयोग के आधिक्य के कारण तीव्रता, मार्मिकता और गम्भीरता चरम पर होती है। विरहगत प्रेम अपनी उत्कट मानसिकता के कारण ही तीव्र होता है। प्रवास-जन्य वियोग के तीन रूप प्राप्त होते हैं—१. प्रिय के विदेश गमन के समय का उद्वेग, २. विदेश वास के समय की दाहक अनुभूति, तथा ३. लौटे हुए प्रिय के दर्शन की उत्कट अभिलाषा। सुख जितना ही निकट आता जाता है उसके संयोग के लिए अधीरता उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। एक क्षण का विलम्ब और एक इंच की दूरी एक युग और सौ कोस जैसी प्रतीति

कराती हैं। यहां बिहारी द्वारा वर्णित वियोग दशा के कुछ मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत कर देने से बात स्पष्ट हो सकेगी।

१. अभिलाषा—वियुक्त प्रिय के मिलन की उत्कट आकांक्षा अभिलाषा है।

तोही निरमोही लग्यौ, मोही इहै सुंभाउ।
अनआए आवे नहीं, आए आवतु आउ॥

२. चिन्ता—प्रिय के शुभ की व्याकुलता।

देखत दुरैं कपूर लौं, उदै आइ किन लाल।
छिन-छिन जात परी खरी, छीन छबीली बाल॥

३. स्मृति—संयुक्तावस्था के अनुभूत मधुर सुखों का वेगपूर्ण स्मरण स्मृति है।

सघन कुंज छाया सुखद शीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं बहै बा जमुना के तीर॥
ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिन राति।
पल कंपति पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति॥

४. गुणकथन—प्रवासी प्रिय के असाधारण गुणों का स्मरण करना। स्मृति में भुक्त विषयों का स्मरण किया जाता है और गुणकथन में नायक के प्रभावशाली वैयक्तिक गुणों का उल्लेखमात्र होता है।

थाकी जतन अनेक करि, नैंक न छांड़ति गैल।
करी खरी दुबरी सुलगि, तेरी चाह चुरैल॥

५. उद्वेग—अनर्थ की आशंका से चित्त की उत्तेजित अवस्था उद्वेग है।

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौ सु इहिं अनुमान।
बिरह अगिनि-लपटनु सकतु, झपटि न मीचु-सचानु॥
नैंक न जानी परति यों परयौ बिरह तनु छाम।
उठति दियै लौं नांदि, हरि लियें तिहारौ नाम॥

६. प्रलाप—विरह की तीव्र वेदना के कारण अनर्गलता—

को जाने ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागैं नैनन लगैं, चलै न मग लग लागि॥

७. उन्माद—विरह-तीव्रता का पागलपन—

हों ही बौरी बिरह बस, कै बौरौ सब गाम।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाम॥

८. व्याधि—वियोग की तीव्रानुभूति के कारण मानसिक अशान्ति—

ह्यां तें ह्वां, ह्वां तें ह्यां, नैकौ धरै न धीर।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरै, बाढ़ी गाढ़ी पीर॥

९. जड़ता—वियोग की परानुभूति में जड़वत् हो जाना—

पल न चलै जकि सी रही, थकि सी-रही उसास।
अब ही तनु रितयौ कहौ, मनु पठयौ किहि पास ॥
मरी डरी कि टरी बिथा, कहां खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुख आह न आहि ॥

१०. मरण—वियोग श्रृंगार में मरण संभव नहीं है। फिर भी मरण तुल्य दशा का तो चित्रण किया ही जाता है। मरण हो जाने पर तो वियोग श्रृंगार रस का अंग न रहकर करुण रस हो जावेगा—

करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छांड़त नीच।
दीने हूं चसमा- चखनु, चाहै लखै न मीच ॥
कहा कहौं बाकी दसा, हरि प्रानन के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबौ लखें, मरिबौ भयौ असीस ॥

इन पारम्परिक वर्णनों के अतिरिक्त बिहारी ने वियोग दशा के अन्य अनेक सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं। बिहारी के वियोग वर्णनों में देव जैसी सरलता-सरसता तथा घनानन्द जैसी प्रवाहात्मकता एवं अनुभूति की गाढ़ता नहीं है, फिर भी कल्पना-कौशल, बिम्ब-विधान और भाषा सौष्ठव के आधार पर बिहारी इन सबसे आगे ही रहते हैं। विहारी के वियोग वर्णन में चमत्कार और ऊहात्मकता अधिक है, संवेदनात्मकता कम। परन्तु वे अपने काव्य सृजन-कौशल के कारण पाठक को इसका रंच मात्र भी अनुभव नहीं होने देते। कविवर बिहारी ने दृश्य-विधान को ही प्रायः महत्त्व प्रदान किया है, मानसिक अवस्थाओं का चित्रण प्रायः कम हुआ है। विरह का शारीरिक प्रभाव कृषता, शुष्कता, दाहत्त्व एवं पाण्डुरता आदि के द्वारा प्रकट किया गया है। नापजोख की शैली उर्दू के आधार पर अपनायी गयी है। कविवर बिहारी के वियोगजन्य ऊहात्मक चित्रण के सुप्रसिद्ध उदाहरण ये हैं—

इत आवत चलि जात उत, चली छः सातक हाथ।
चढ़ी हिंडौरें सी रहै, लगी उसासनु साथ ॥

विरह ने नायिका को इतना अधिक कृशकाया बना दिया है कि वह सूखकर कांटा हो गयी है; वह साधारण-सी सांसों के झूले पर ही झूलने लगी है। कृशता के प्रति संवेदना के स्थान पर ऐसे वर्णन से हास्य ही उत्पन्न होता है। इस वर्णन में चमत्कार इतना अधिक है कि वह संभवता का उल्लंघन कर गया है। दूसरा उदाहरण नायिका की दैहिक तपन को चमत्कारी एवं ऊहात्मक शैली में व्यक्त करता है—

औंधाई सीसी सुलखि बिरह बदन बिललात।
बींचहिं सूखि गुलाब ग्यौ, छींटौ छुयौ न गात ॥

विरहताप चरम पर था अतः नायिका के सर पर गुलाबजल की बोतल उंडेली गयी पर दैहिक उष्णता के भाप से सारा गुलाबजल बीच में ही जलकर सूख गया और एक छींटा भी नायिका के शरीर पर न पड़ा। यह वर्णन अस्वाभाविक एवं ऊहात्मक मात्र है। इसी प्रकार—

सीरे जतननु सिसिर रितु, सहि बिरहिनि-तनु-तापु।
बसिबै को ग्रीषम दिननु, परयौ परौसिनि पापु॥
सुनत पथिक मुंहमांह निसि, चलति लुवें उहिगाम।
बिन बूझें बिन ही कहैं, जियत बिचारी बाम॥

विरहिनी नायिका के ताप से माघ के शीतल महीनों में भी उष्ण हवाएं चलती हैं। नायिका के तापाधिक्य से ऋतु ही बदल गयी है। इस ऊहात्मकता में भी एक मधुर अभिव्यक्ति, प्राञ्जल भाषा और कथन का बांकपन है। वर्णन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी यदि विरह ताप के सन्दर्भ में देखा जाए तो सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विरह की असह्यता का बोध कराना ही कवि का लक्ष्य है। ऐसे वर्णनों में हमें अतिशायी व्यंजना के प्ररिप्रेक्ष्य से ही रसास्वादन करना चाहिए।

बिहारी के संवेदनात्मक विरह चित्र भी अपना मौलिक वैशिष्टय रखते हैं। ऐसे वर्णनों में अनुभूति, कल्पना एवं पदलालित्य अत्यन्त प्रभावक एवं सजीव है। ये वर्णन प्रायः सरसता एवं सहजता से ओत-प्रोत हैं।

पूर्वरागजन्य वियोग—

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन परवानु।
नतरुक कत इन बिय लगत, उपजतु बिरह-कृसानु॥

हेत्वपह्नुति द्वारा किस प्रभावक ढंग से नायिका ने सखी से अपनी विरहाकुल अवस्था प्रकट की है?

इसी प्रकार—

हरि हरि! बरि बरि उठति है, करि करि थकी उपाइ।
बाकौ जुरु, बलि बैद, जौ तो इस जाइ तु जाइ॥

श्लेष, अनुप्रास एवं संभावना अलंकारों के द्वारा विरह व्यंजित किया गया है। विरह की तीव्रता से नायिका का शरीर भस्म हुआ जा रहा है।

प्रियदर्शन की अभिलाषा में बेचैन विरहिणी—

यह बिनसतु नगु राखि कै, जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाईएं, आइ सुदरसनु देहु॥

विरहिणी की क्या दशा है, नायक स्वयं ही आकर अपनी आंखों से देखे। विरहाधिक्य की यह व्यंजना अति प्रभावक है—

जो वाके तन की दसा, देख्यो चाहतु आपु।
तौ बलि नैक बिलोकियै, चलि अचका चुपचाप ।।

नायिका के कटाक्ष से आहत नायक की शरीर और मन की दशा देखिए—

कहा लड़ैते दृग करै, परे लाल बेहाल।
कहु मुरली कहुं पीत पटु, कहूं मुकुट बनमाल ।।

वियोग एवं संयोग का ऐसा सहज, सरस एवं संवेदनात्मक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है—

बिलखी डभकौंहें चखनु, तिय लखि गवनु बराइ।
पिय गहवरि आएं गरैं, राखी गरैं लगाइ ।।

प्राणप्रिया की डबडबाई आंखों को देखकर नायक ने विदेश गमन स्थगित कर दिया और उसे अपने गले से लगा लिया।

निष्कर्ष

बिहारी सतसई में विरह-वर्णन के और संयोग-वर्णन के सभी पारम्परिक रूप प्राप्त होते हैं। इन रूपों में पुनराख्यान के साथ भाव, कल्पना और शैली की नवता भी है। बिहारी के विरह-वर्णन में सूर, मीरा और नन्ददास जैसी गंभीरता नहीं है। रीतिकाल की भौतिक एवं भोगवादी चेतना में मांसलता और बाहरी चमक-दमक ही थी। अतः मानसिकता का गाम्भीर्य वहां सम्भव ही न था। वास्तव में विलास और वासना के वायुमण्डल का श्रृंगार रीतिकालीन काव्य में है। विरह की सच्ची तड़प जो विशुद्ध प्रेम में ही संभव है, रीतिकाल में संभव न थी। बिहारी को वियोग की अपेक्षा संयोग वर्णन में अधिक सफलता मिली है। उनका जीवन संयोग श्रृंगार के ही निकट था।

६

बिहारी सतसई

व्याख्या

मंगलाचरण

मेरी भवबाधा[1] हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झांईं परै, स्यामु हरित-दुति होइ ।।१।।

शब्दार्थ—भवबाधा=सांसारिक कष्ट। नागरि=चतुर। सोइ=प्रसिद्ध। झांई=परछांही, झांकी, ध्यान। परै=पड़ने पर, तन पर, दृष्टि में, हृदय में। स्यामु=श्यामवर्ण-कृष्ण, श्री कृष्ण, पाप। हरित-दुति=हरे रंग वाला, प्रसन्न, हतप्रभ।

प्रसंग—ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए कवि ने इष्ट देवी तथा शृंगार-रस की अधिष्ठात्री राधा का अत्यन्त भावपूर्ण नमन किया है।

कवि राधा बल्लभ सम्प्रदाय के थे, अतः उक्त मङ्गलाचरण उचित है।

प्रस्तुत दोहे के तीन अर्थ हैं—प्रथम अर्थ राधा के रूप (गौर-पीत) वर्णन से सम्बद्ध है, द्वितीय राधा के प्रिया-प्रिय रूप से और तृतीय अर्थ भक्तिपरक है—यही मुख्य है।

अर्थ—हे! वही (प्रसिद्ध रूपवती) नागरि राधा, आपके जिस तन (परमोज्वल) की छाया मात्र पड़ने से श्री कृष्ण हरे वर्ण के हो जाते हैं, (ऐसी आप) मेरी सांसारिक बाधाओं को नष्ट कीजिए।

(२) हे वही राधा नागरि! आपके जिस (अलौकिक) शरीर की झलक प्रिय कृष्ण की दृष्टि में आते ही वे हरित-दुति (प्रसन्न मुद्रांयुक्त) हो जाते हैं, (ऐसी आप) मेरी भवबाधा हरें।

(३) जिनके पवित्र रूप का ध्यान आते ही पापी व्यक्ति का हृदय निर्मल (हृतद्युति=पापों की गहरी कालिमा से रहित) हो जाता है; ऐसी अनुपम राधा मुझ भक्त की सांसारिक बाधाएं हरें।

१. पाठान्तर—भौबाधा।

अलंकार—श्लेष, परिकर (स्याम), रूपकातिशयोक्ति, अनुप्रास, काव्य-लिङ्ग।

अपने अंग के जानिकै, जोबन-नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितम्ब कौ, बड़ौ इजाफा कीन ॥२॥

शब्दार्थ—अंग के=पक्ष के सहायक। इजाफा=वृद्धि।

प्रसंग—मुग्धा नायिका के वर्धमान अंगों से प्रभावित नायक की उक्ति।

अर्थ—यौवन-रूपी चतुर-गुणग्राहक नृपति ने अपना समझकर ही (इस सुन्दरी के) कुच, हृदय, नेत्र और नितम्बों में वृद्धि कर दी है। योग्य राजा भी अपने सहायकों की वृद्धि करता ही है।

अलंकार—रूपक, तुल्ययोगिता।

अर तैं टरत न बर-परे, दई मरक मनु मैन।
होड़ा होड़ी बढ़ि चले, चितु, चतुराई, नैन ॥३॥

शब्दार्थ—अर=हठ। बर-परे=बलवान, उमंग भरे। मरक=प्रोत्साहन, बढ़ावा। मैन=कामदेव।

प्रसंग—अंकुरित यौवना के सौन्दर्य से मुग्ध नायिका की उक्ति।

अर्थ—(यौवन के द्वार पर खड़ी) इस सुन्दरी के चित्त, चतुरता तथा नेत्र अद्भुत उत्साह एवं स्पर्धा से बढ़ चले हैं—रोके नहीं रुकते; अवश्य ही इन्हें कामदेव ने प्रोत्साहन (शह) दिया है।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

नेत्र-वर्णन

औरै-ओप कनीनिकनु, गनी घनी-सिरताज।
मनीं धनी के नेह की, बनीं छनी पट लाज ॥४॥

शब्दार्थ—औरै=दूसरी ही, अनोखी। ओप=चमक। कनीनिकनु=आंख की पुतलियों में। मनी=मणि। धनी=प्रिय। छनी=छिपी हुई, छन-छनकर झलक मारती हुई।

प्रसंग—अन्यसंभोग दुःखिता नायिका द्वारा सद्यःसंभोग गर्विता नायिका के प्रति।

यह भी संगत लगता है—

बढ़ते हुए यौवन के कारण मुग्धा की पुतलियों में चमक (कामुकतापूर्ण) तथा लज्जा उभर उठी है। उसी को देखकर सखी उसके उत्साह वर्धनार्थ कहती है।

अर्थ—(सुन्दरी) तू अपनी इन मादक और चमकीली पुतलियों के कारण अनेक सपत्नी नायिकाओं में शिरोमणि मान ली गई है। तेरे झीने लाज के

अवगुण्ठन से झलकती हुई ये पुतलियां तेरे प्रिय के स्नेह की मणियां ही बन गई हैं अर्थात् प्रिय इन पुतलियों पर क्यों न मन्त्रमुग्ध हो।

विशेष—जैसे मणि मन्त्र आदि गुप्त रहने पर अधिक प्रभावक होते हैं उसी प्रकार अवगुण्ठन में छिपे नेत्र भी।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति, अनुमान, वृत्यनुप्रास।

कजरारे नयन

सनि कज्जल चख-झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सबु देहु ॥५॥

शब्दार्थ—सनि=शनि नामक ग्रह, इसका रंग काला होता है। चख=चक्षु। झख=मछली, मीन लग्न। सुदिन=शुभ दिन; राजयोग के अनुकूल दिन। सुदेसु=सुन्दर देश, सुन्दर देह-प्रदेश।

प्रसंग—नायक मुग्धा नायिका के कज्जलाक्त नेत्रों से प्रभावित हो उठा है—(भाव उद्दीप्त हो उठे हैं)। इसी भाव को लक्षित कर दूती नायिका से कहती है।

अर्थ—हे सुन्दरी! तेरे चक्षु रूपी मीन लग्न में कज्जल रूपी शनि का शुभ संयोग हो गया है। इसके फलस्वरूप नायक के हृदय में (स्नेह रूपी तालक) भी उत्पन्न हुआ है। ऐसे शुभ अवसर पर तू सम्पूर्ण देह-प्रदेश पर अधिकार करके एक राजा के समान उसका भोग क्यों नहीं करती?

विशेष—यदि किसी व्यक्ति के जन्म समय मीन तथा शनि का योग हो तो ज्योतिषशास्त्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति राजा होता है।

दृष्टव्य—रसिक-प्रवर बिहारी का प्रस्तुत दोहे में अद्‌भुत ज्योतिष-ज्ञान और मूल रस-शृंगार का अक्षुण्ण निर्वाह अनुपम है।

अलंकार—श्लेष, रूपक, सम।

कर्ण भूषण

सालति है नटसाल सी, क्यों हू निकसति नाँहि।
मनमथ-नेजा-नोक सी, खुभी-खुभी जिय माँहि ॥६॥

शब्दार्थ—सालति है=कष्ट देती है। नट साल (नष्ट शल्य)=बर्छी आदि की नोक जो शरीर के भीतर रहकर दुःख देती है। मनमथ-नेजा-नोक=कामदेव के भाले का अग्रभाग। खुभी=कर्ण भूषण। खुभी=धंसी हुई।

प्रसंग—खुभी पर मुग्ध नायक दूती से उसकी नायिका से मिलनेच्छा व्यक्त कर रहा है।

अर्थ—उसकी कामदेव के भाले की नोक सदृश तीक्ष्ण खुभी मेरे हृदय में

धंसकर (अन्दर टूटी हुई) नष्ट शल्य की भांति मुझे तीव्र वेदना दे रही है। किसी प्रकार निकलती नहीं।

अलंकार—यमक, पूर्णोपमा।

विशेष—कामदेव का शस्त्र वाण है परन्तु कवियों ने भाला, बर्छी आदि का भी काम के शस्त्रों में वर्णन किया है।

शुक्लाभिसारिका

जुवति जोन्ह में मिली गई, नैंक न होति लखाइ।
सोंधे कै डोरैं लगी, अली चली संग जाइ ॥७॥

शब्दार्थ—जोन्ह (ज्योत्स्ना)=चांदनी। लखाइ=दिखाई देना। सोंधे=सुगन्ध। डोरें=धागा, वायु से प्रसारित सुगन्ध। अली=सखी, भ्रमर।

प्रसंग—श्वेताभिसारिका नायिका की सखी उसके रूप और गुण की प्रशंसा कर रही है।

अर्थ—यह गौरवर्णा सुन्दरी चन्द्रिका में ऐसी एकरूप हो गयी है कि किंचिन्मात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होती है—[इसके साथ मेरा चलना असम्भव हो गया है] परन्तु चतुर सखी भ्रमर की भांति उसकी (दैहिक) सुगन्ध के सहारे उसके साथ जा रही है।

अलंकार—श्लेष, उन्मीलित—सादृश्य होने पर भी कारण विशेष से भेद की प्रतीति।

हौं रीझी, लखि रीझि हौ, छबिहिं छबीले लाल।
सोन जुही-सी होति दुति-मिलत मालती माल ॥८॥

शब्दार्थ—हौं=मैं।

प्रसंग—नायिका की सखी नायिका के अनोखे रूप की प्रशंसा करके नायक को उत्कंठित कर रही है।

अर्थ—(हे रसिक प्रवर!) तुम स्वयं को अत्यधिक छवियुक्त समझते हो फिर भी मेरी सखी को देखकर अवश्य ही रीझोगे, मैं भी (स्त्री होने पर भी) उस पर रीझ उठी हूं। वह ऐसी गौरांगी है कि उसकी कांति से सम्पृक्त होते ही उसकी मालती-माला स्वर्णवर्णा हो जाती है।

अलंकार—तद्गुण, उपमा।

बहके, सब जिय की कहत, ठौरु कठौरु लखैं न।
छिन औरै छिन और से, ए छवि छाके नैन ॥९॥

प्रसंग—दूती अपनी पूर्वानुरागिनी नायिका से कहती है कि तुझे ऐसा प्रेमोन्मत्त न होना चाहिए। इस पर नायिका कहती है :—

अर्थ—(सखी मैं क्या करूं) प्रिय की छवि-मदिरा से छके हुए अतः उन्मत्त

मेरे ये नयन क्षण-प्रतिक्षण पराये-से होकर मेरा अन्तःरहस्य (प्रिय के प्रति प्रेम) प्रकट किए बिना नहीं रहते, इन्हें उचित-अनुचित स्थान का भी ध्यान नहीं है। (वास्तव में प्रेम छिपाये नहीं छिपता)

तुलनात्मक—

छुप के रह नहीं सकती आशिकी वह मस्ती है।
दिल में बादल उठता है, आंख से मय बरसती है ॥
—जिगर मुरादाबादी

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति, रूपक, सभ्रमक, वीप्सा।

फिरि-फिरि चितु उतहीं रहतु, टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग छवि-झौंर मैं, भयौ भौंर की नाव ॥१०॥

शब्दार्थ—उतहीं=वहीं। लाव=रस्सी। झौंर=किसी वस्तु का झूमता हुआ गोलाकार पिंड।

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी सखी से स्वयं ही स्नेह-विह्वलता का वर्णन कर रही है।

अर्थ—(हे सखी!) प्रिय के सर्वांग-सौन्दर्य के चक्र में (झूमर में) उलझा हुआ मेरा मन, भंवर में फंसी हुई नाव की भांति उसी ओर रहता है (जैसे नाव भंवर से निकल नहीं पाती उसी प्रकार प्रिय की छवि ने मुझे फंसा लिया है) और अब तो इस चित्त का लौटना और भी कठिन हो गया है क्योंकि लज्जा रूपी रस्सी भी टूट चुकी है।

अलंकार—रूपक, वीप्सा।

भक्तिपरक

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥११॥

शब्दार्थ—नीकी=उचित (उपालम्भात्मक)। अनाकनी=अनसुनी। गुहारि=पुकार, करुण निवेदन। बिरदु=यश, प्रशंसा। बारक=एक बार ही। **बारनु=हाथी।**

प्रसंग—भक्त का भगवान से आग्रहपूर्ण निवेदन।

अर्थ—(हे अशरण-शरण) आपने खूब अनसुनी कर दी। मेरा अत्यन्त करुण निवेदन भी व्यर्थ हो गया। कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि आपने केवल एक हाथी का उद्धार करके ही अपने (पतितोद्धारक स्वभाव) कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है।

चितई ललचौहैं चखनु, डटि घूंघट-पट माँह।
छल सों चली छुवाइ कै, छिनकु छबीली छाँह ॥१२॥

शब्दार्थ—चितई=देखा। डटि=डटकर, स्थिरतापूर्वक। छिनकु=क्षणभर

के लिए।

प्रसंग—नायिका की रसीली आंगिक चेष्टाओं से मुग्ध नायक स्वगत कह रहा है।

अर्थ—पहले तो उसने (झीने) अवगुण्ठन में से झांककर—भरपूर ललचाई दृष्टि से मुझे देखा और फिर छल से वह छबीली अपनी छाया को क्षणभर के लिए मुख से छुलाती हुई चली गई।

अलंकार—युक्ति, पदमैत्री।

विशेष—हावों की मार्मिक व्यञ्जना इस दोहे का सर्वस्व है।

हाव-नायिका (आलम्बन) की कामपूर्ण चेष्टाएं।

दीर्घनेत्र

जोग-जुगनि सिखए सबै, मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता, काननु सेवत नैन ॥१३॥

शब्दार्थ—जोग-जुगति (योग-युक्ति)=यह शब्द द्वयर्थक है—१. प्रिय का मेल। २. चित्तवृत्तियों को रोककर जीव का परमात्मा में लीन होना। जुगति=उपाय। पूर्णार्थ हुआ—१. प्रियमिलन के उपाय, २ योग-क्रिया की पद्धति। प्रिय के भी दो अर्थ है—नायक, भगवान। अद्वैतता=सामीप्य, ब्रह्मजीव का ऐक्य। काननु=कान, बन। नैन=नयन, आचारपालक योगी।

प्रसंग—नवयौवना के बढ़ते हुए नेत्रों को देखकर सखियां उससे रत्यादि के उत्साहवर्धक वाक्य कहती हैं।

अर्थ—तेरे नयनरूपी मुनि श्रवण-रूपी वन में विहार करने लगे हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि ये कामदेव रूपी महामुनि से योग (प्रियमिलन, योग क्रियाओं) की सभी युक्तियां सीख चुके हैं और अब प्रिय ऐक्य (प्रिय से मिलन, ईश्वर से तादात्म्य) चाहते हैं।

अलंकार—श्लेष, रूपक—महामुनि-मैन। नैन में श्लिष्टपदमूलक रूपक है।

पूर्ण दोहे में—श्लेष एवं रूपक से पुष्ट उत्प्रेक्षा।

विशेष—शृंगार एवं योग की परस्पर विरोधी वृत्तियों की इतनी सूक्ष्म एवं सुलझी हुई विवेचना बिहारी जैसे सूक्ष्मदृष्टा एवं अद्भुत प्रतिभावान् कवि से ही संभव है।

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि?
आक-कली न रली करै, अली, अली जिय जानि ॥१४॥

शब्दार्थ—खरी=अत्यधिक। पातरी=कच्ची अर्थात् किसी बात को सुनकर शीघ्र ही प्रभाव में आने वाली। बहाऊ बानि=व्यर्थ की आदत। रली=आनन्द।

प्रसंग—मध्या नायिका ने यह सुनकर कि नायक अन्य स्त्री से सम्पृक्त है, मान किया है। सखी उसे सान्त्वना देती हुई समझाती है।

अर्थ—(हे सखी) तुम बड़े कच्चे कान की हो, तुम्हारा स्वभाव अच्छा नहीं है ! (तुम्हें किसी की सुनाई हुई बात पर सहज भाव से विश्वास नहीं करना चाहिए) भला (रस लोभी एवं रस-पारखी) भ्रमर मदार वृक्ष की विषैली कली से स्नेह सम्बन्ध कभी जोड़ता है ?

अलंकार—यमक, छेकानुप्रास।

पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु, हरसु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियन, तजत प्रान इहि बार ।।१५।।

शब्दार्थ—प्यौसार=(पितृशाला) पिता के घर। लौं=सदृश। इहि बार=अबकी बार।

प्रसंग—नायिका पहले अल्पवयस्का एवं मुग्धा थी, अतः नायक-वियोग उसे अधिक न खटकता था। परन्तु अब वह रतिक्रिया विदग्धा-मध्या हो गई है अतः नैहर जाते समय प्रिय-वियोग उसे असह्य हो उठा है तो दूसरी ओर नैहर का मोह भी नहीं छोड़ सकती। इसी दुःख-सुखात्मक मनोदशा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। नायिका की इसी दशा का अनुमान एक सखी करती है।

अर्थ—पितृ-गृह जाते समय (अपने माता-पिता, भाई-बहन आदि से मिलने की संभावना के कारण) यह हर्षयुक्त है और साथ ही इधर प्रियतम से वियुक्त होने का उसे असह्य दुःख है। (वास्तव में इस बार का नैहर जाना) दुर्योधन के प्राणान्त समय की-सी स्थिति उत्पन्न कर रहा है।

१. रतिरसलीना मध्या की अन्तर्द्वन्द्वात्मक मनोदशा का अत्युत्कृष्ट चित्रण।
२. दुर्योधन की प्राणान्त दशा से तुलना प्रस्तुत करके तो बिहारी ने गजब ही ढा दिया हैं। इस दशा के लिए ऐसी चुस्त उपमा दुर्लभ ही है।
३. भाषा की सामासिकता, सौकुमार्य और अर्थगाम्भीर्य भी पाठक को वशम्वद बनाते हैं।
४. दोहे जैसे छोटे-से छंद में नाटक जैसी चित्रात्मकता वस्तुतः स्तुत्य है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

टिप्पणी—दुर्योधन को शाप था। हर्ष और शोक दोनों एक साथ उत्पन्न होने पर ही तेरी मृत्यु होगी।

झीनें पट में झुलमुली, झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु में लसति सपल्लव डार ।।१६।।

शब्दार्थ—झुलमुली=झिलमिलाती, लहराती हुई। लसति=शोभित होती है।

प्रसंग—नायक ने नायिका का स्वर्णिम शरीर पारदर्शक साड़ी में से देखा है, अतः उसी से प्रभावित हो स्वगत कह रहा है।

अर्थ—पारदर्शक सुन्दर साड़ी में से झिलमिलाती-लहराती हुई उसकी दैहिक कान्ति ऐसी लगती है जैसे कि समुद्र में कल्पवृक्ष की एक किसलय-लसित डाल ही सुशोभित हो रही हो।

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा।

ध्यातव्य—उत्प्रेक्षा अत्यन्त चुटीली, सजीव एवं चित्रात्मकता से ओत-प्रोत है।

चिबुक सौन्दर्य

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप ठग, हांसी फांसी डारि ॥१७॥

शब्दार्थ—ठोड़ी गाड़=ठुड्डी का गड्ढा। चिलक=चमक। चौंध=जिस प्रकाश से मार्ग के निर्णय में बाधा हो उस प्रकाश को चौंध कहते हैं। मारि=मारकर।

प्रसंग—नायक नायिका की गड्ढेदार ठोड़ी पर रीझा हुआ है। उसी ठोड़ी की प्रशंसा करता हुआ कहता है।

अर्थ—(उस रूपवती के) सौन्दर्य-रूपी ठग ने अपनी (अलौकिक) चकाचौंध में मेरे नयन-रूपी पथिकों को घेरकर (उन पर) हंसी-रूपी फांसी डाल दी और फिर मारकर ठोड़ी के गड्ढे में डाल दिया है।

अलंकार—साङ्ग रूपक।

कीनैं हूं कोरिक जतन, अब कहि काढ़ै कौनु।
भो मन मोहन-रूपु मिलि, पानी मैं को लौनु ॥१८॥

शब्दार्थ—मन=चित्त, मानसरोवर (यह शब्द श्लिष्ट है)।

प्रसंग—नायिका सखी से अपनी प्रेम-विवशता का उल्लेख कर रही है।

अर्थ—(मेरे प्रिय) मोहन का रूप मेरे मन-रूपी मानसरोवर में घुलकर पानी में पड़े हुए नमक की (अभिन्नता की) स्थिति को पहुंच चुका है। अब करोड़ों यत्न करने पर भी किसका सामर्थ्य है जो उसे पृथक् कर सके।

विशेष—१ प्रेमियों की तादात्म्यावस्था का सुन्दर चित्रण है।
२. सच्चा प्रेमी संसार की आलोचना की चिन्ता नहीं करता है।
३. उसकी समस्त वृत्तियां-प्रिय पर केन्द्रित हो जाती हैं।

अलंकार—दृष्टान्त।

रह्यौ सुमनु ह्वै है सफलु, आतप रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी, सींचि सुहृदता बारि ॥१९॥

शब्दार्थ—सुमनु=सुन्दर मन, (२) पुष्प। सफलु=इच्छापूर्ति, (२) फल सहित। आतप रोस=दुखदायी क्रोध, (२) धूप की तपन। बारी=भोली, अल्पवयस्का बाला, (२) माली। सुहृदता=मैत्री, (२) उत्तम सरोवर।

प्रसंग—नायिका ने पति से उपेक्षित होने के कारण मान किया है। उसकी सखी उसे प्रिय मिलन का मार्ग बता रही है।

अर्थ—री भोली बाला! तू क्रोध रूपी उष्णता को छोड़ दे, अब तू अपनी प्रेमवाटिका को सौजन्य मृदुलता के जल से सींच जिससे तेरा सुन्दर मनरूपी पुष्प प्रिय-प्राप्ति रूपी सुफल में परिणत हो सके।

माली भी अपने नन्हें-नन्हें पौधों को धूप से बचाकर बड़े धैर्य से स्वच्छ और मीठे जल से सींचता है; तभी वे सुफल युक्त होते हैं।

वास्तव में क्रोध और मान प्रेम-पथ के शत्रु हैं; इस पथ पर चलने वालों में अटूट धैर्य और अनथक प्रयत्न अपेक्षित होते हैं।

अलंकार—श्लेष, रूपक, यमक।

बेसर-नासिका भूषण

अजौं तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु के संग ॥२०॥

शब्दार्थ—अजौं=आज तक भी। तरयौना=अधोवर्ती, (२) कर्णभूषण—तरकी। श्रुति=वेदाङ्ग, (२) कान। इक रंग=एक भाव से—निरन्तर। नाकवास=स्वर्ग-प्राप्ति, (२) नाक में स्थान। बेसरि=नाक का भूषण, (२) अधम प्राणी। मुकुतनु=मोती, (२) जीवन्मुक्त व्यक्ति।

प्रसंग—कवि की उक्ति है। इसमें बेसर के आधार से सत्संग की प्रशंसा की गई है।

अर्थ—आज तक तरयौना (कर्ण भूषण) जड़भाव से एकमात्र कान में ही रहा, अतः अधोवर्ती रहा। और बेसर ने मोतियों की संगति प्राप्त कर नाक-बास (उच्च पद) प्राप्त कर लिया।

(२) निरन्तर श्रुति पर अटका हुआ व्यक्ति आज तक उद्धार न पा सका और सत्पुरुषों की संगति पाकर महा अधम प्राणी भी स्वर्ग-सुखों का भोक्ता बना।

(३) सत्संगति के पक्ष में तरयौ नाही शब्द का **तरा नहीं**—उद्धार न पा सका ऐसा अर्थ करने पर अत्यन्त स्वाभाविक अर्थ लगता है।

निरन्तर श्रुति पर विश्वास करने वाला व्यक्ति आज तक बिना तरा ही

रहा, जबकि जीवन्मुक्त पुरुषों की संगति से एक नहा अधम प्राणी भी स्वर्ग का निवास प्राप्त कर सका।

अलंकार—श्लेष, रूपक, व्यतिरेक।

भक्तिपरक

जम-करि-मुँह-तरहरि परयौ, इहिं धरहरि चितलाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ॥२१॥

शब्दार्थ—तरहरि=नीचे। धरहरि=निश्चयपूर्वक। नरहरि=नृसिंह भगवान, (२) कवि के दीक्षा-गुरु नरहरिदास।

प्रसंग—कवि की स्वगत उक्ति।

अर्थ—(रे मनुष्य तू) यम-रूपी हाथी के मुंह के नीचे पड़ा हुआ है (किसी भी समय तेरी इहलीला समाप्त हो सकती है) इस (कठोर सत्य) पर ध्यान दे। अब भी समय है विषयों की मृग-तृष्णा से पृथक् रहकर उस नृसिंहावतारी प्रभु का गुणगान कर।

अलंकार—रूपक, स० यमक, **परिकर** तथा श्लेष—नरहरि में।

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी, भले बनै हौ लाल ॥२२॥

शब्दार्थ—पलनु=पलकों में।

प्रसंग—खण्डिता नायिका की नायक से उक्ति।

अर्थ—पलकों में पान की पीक, अधर पर अंजन तथा ललाट पर पैरों का लाक्षारस धारण किए हुए, हे प्रिय! आज जो आप मुझे मिले हैं, (बड़ी कृपा की है आपने) इस बाने में आप अति भले लग रहे हैं।

दृष्टव्य—नायक ने किसी मानिनी नायिका का भोग किया है, अतः रात्रि जागरण से उसकी आंखें लाल हैं, नेत्र चुम्बन से अधरों पर प्रिया की आंख का काजल लग गया है और उसे अनुकूल करने के लिए उसके चरणों में अपना मस्तक रगड़ने से उसमें महावर लग गया है। इन सब बातों का अनुमान खण्डिता नायिका ने सहज ही लगा लिया और नायक के इस स्वच्छन्द विहार पर बड़ा करारा व्यंग्य किया।

अलंकार—असंगति।

विपरीत रति

लाज-गरब-आलस-उमग-भरे नैन मुसकात।
राति-रमी रति देति कहि, औरै प्रभा प्रभात ॥२३॥

प्रसंग—प्रातःकाल सखी ने नायिका की विशिष्ट आंगिक चेष्टाओं को

देखकर उसकी रात-रमी विपरीत रति का अनुमान कर लिया।

अर्थ—उसके मुख की प्रभातकालीन छवि से यह स्पष्ट है कि इसने रात-भर नायक के साथ विपरीत रति का आनन्द लिया है। नेत्रों से उठी हुई लज्जा, गर्व, आलस्य और उमंग से परिपूर्ण मुस्कान भी उक्त बात लक्षित कर रही है।

विशेष—लज्जा, गर्व, आलस्य और उमंग इन परस्पर विरुद्ध भावों का एकीकरण इस दोहे की विशेषता है। इन विरुद्ध भावों से ही विपरीत रति लक्षित होती है।

अलंकार—अनुमान, स० यमक, भेदकातिशयोक्ति, अनुप्रास।

पति रति की बतियां कहीं, सखी लखी मुसक्राइ।
कै कै सबै टलाटली, अलीं चलीं सुखुपाई ॥२४॥

शब्दार्थ—टलाटली = बहाना।

प्रसंग—पति ने नायिका से रति इच्छा प्रकट की। नायिका ने भी मन्द हास्य से उक्त भाव का संकेत समीपवर्तिनी सखी को दिया और सभी सखियां वहां से किसी न किसी छल से चल दीं।

अर्थ—पति ने बातों ही बातों में नायिका से रति-इच्छा प्रकट की। (नायिका ने उक्त भाव समझकर) मुस्कराकर सखी की ओर देखा। सभी सखियां भी इससे सुख पाकर अनेक प्रकार के बहाने बनाकर वहां से चल दीं।

अलंकार—पर्यायोक्ति—भङ्ग्यन्तर से कथन, अनुप्रास।

तुलनात्मक—सख्योऽथ पक्ष्मल दृशां तदवेक्ष्य तन्त्रं;
स्मेराननार्पितकरं शनकैर्निरीयुः;
तत्कर्पटाञ्चल-समीर विधूयमानो;
दीपोऽपि निर्जगमिषुत्त्व मिवा ललम्बे ॥
(मंखक, श्री कण्ठ चरित १५/१५)

भाव—सखियों ने जब यह तन्त्र (माजरा) देखा तो मुस्कराते हुए मुंह पर हाथ रखकर, धीरे-धीरे वहां से खिसक चलीं। साथ ही उनके दुपट्टों के आंचल की हवा से हिलता हुआ दीपक भी आंख बन्द करके वहां से विदा होने की तैयारी करने लगा।

—बिहारी की सतसई (पं० पद्मसिंह शर्मा) से सादर।

तो पर वारौं उरवसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन कै उर बसी ह्वै उरबसी-समान ॥२५॥

शब्दार्थ—उरबसी = उर्वशी अप्सरा। उरबसी = वक्षस्थल का भूषण विशेष।

प्रसंग—राधा कृष्ण पर अविश्वास हो जाने से मान किए बैठी है। सखी उसे समझा रही है।

अर्थ—हे चतुर राधे ! सुन, (तेरा सौन्दर्य अनुपम है) तुझ पर इन्द्र की अप्सरा उर्वशी भी न्यौछावर कर सकती हूं। (वास्तव में) तू मोहन के हृदय में उरबसी भूषण के समान बसी हुई है (फिर कोई दूसरी सुन्दरी वहां कैसे स्थान पा सकती है अतः तू उनपर अविश्वास न कर)।

अलंकार—यमक, प्रतीप (उपमान उर्वशी का उपमेय राधा की तुलना में निरादर) उपमा।

कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै चली डीठि मुंह-चाड़।
फिरि न टरी परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़ ॥२६॥

शब्दार्थ—चाड़=लालच।

प्रसंग—नायक नायिका की ठोड़ी पर रीझकर उसी की प्रशंसा कर रहा है।

अर्थ—मेरी दृष्टि उस सुन्दरी के कुच रूपी पर्वत पर चढ़कर अत्यधिक थक गई (मुग्ध होकर रुक गई) फिर भी मुख-सौन्दर्य के लोभ से ऊपर को बढ़ी ही थी कि ठोड़ी के गड्ढे में ऐसी गिरी कि फिर निकल ही न सकी।

अलंकार—रूपक।

बेधक अनियारे नयन, वेधत करि न निषेधु।
बरबट बेधतु, मो हियौ, तो नासा कौ बेधु ॥२७॥

शब्दार्थ—अनियारे=नुकीले। बरबट=बलपूर्वक। बेधु=छिद्र।

प्रसंग—नायक नायिका के नासा-छिद्र पर विशेष रूप से रीझा है।

अर्थ—(हे सुन्दरी) तेरे नुकीले नयन तो बेधक (घायल करने वाले) हैं ही, अतः मेरे हृदय को छेदकर वे कोई अनुचित (निषिद्ध) कार्य नहीं कर रहे हैं। (आश्चर्य तो यह है) कि तेरा नासा का (मारक) छिद्र भी (जो कि स्वयं बिंधा हुआ है) मेरे हृदय को वेध रहा है। आशय यह है कि तू सर्वाङ्ग सुन्दरी है पर तेरे नासा-छिद्र का आकर्षण सर्वाधिक घातक है।

अलंकार—विभावना (चतुर्थ) "जाकौ कारन जो नहीं उपजत तातें तौन।"

लौने मुंहुं दीठि न लगै, यों कहि दीनौ ईठि।
दूनी ह्वै लागन लगी, दियें दिठौना दीठि ॥२८॥

शब्दार्थ—दीठि=नजर, कुदृष्टि। ईठि=सखी—यह शब्द इष्टा का विकसित रूप है। दिठौना=काजल का काला निशान जो मुख पर दूसरों की कुदृष्टि बचाने के लिए लगाया जाता है।

प्रसंग—नायिका का मुख दिठौना से और भी अधिक शोभायुक्त बन पड़ा

है, नायक इसी भाव को उससे व्यक्त कर रहा है।

अर्थ—तेरी सखी ने तो तेरे लावण्यमय मुख पर दिठौना दूसरों की कुदृष्टि से बचाने के भाव से लगाया, परन्तु इससे तेरे मुख की शोभा द्विगुणित हो उठी और रसिकों की दृष्टि भी उसपर दूनी होकर पड़ने लगी।

अलंकार—विषम।

चितवनि रुखे दृगनु की, हांसी-बिनु मुसकानि।
मानु जनायौ मानिनी, जानि लियौ पिय, जानि ॥२९॥

शब्दार्थ—जानि=ज्ञानी, जानकार।

प्रसंग—मानिनी नायिका ने मान किया और नायक ने उसका मान समझ लिया। यही बात एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

अर्थ—नायिका का रूखी आंखों का दृष्टिपात और नायक का बिना किसी हंसी की बात के ही उस पर हंस देना। इससे यह स्पष्ट हो गया कि मानिनी ने मान किया और चतुर पिया ने तत्काल उसे समझ लिया (और प्रिया को प्रसन्न करने का यत्न किया)।

अलंकार—हेतु, अनुमान, यमक।

दृष्टव्य—हाव और अनुभाव की सुन्दर व्यंजना।

सब ही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यों ठहराति यह, कबिलनवी लौं दीठि ॥३०॥

शब्दार्थ—समुहाति=सामने आती है। कबिलनवी=मन्त्र की कटोरी। यह कटोरी जनसमुदाय में घूमती है और अपराधी व्यक्ति को छांटकर उसके सामने रुक जाती है।

प्रसंग—परकीया नायिका जन-समुदाय में है। उसकी दृष्टि सरसरी तौर से सब ओर जाती है पर उपपति पर पहुंचकर रुक जाती है। उसके इसी भाव को एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

अर्थ—उसकी दृष्टि सब की ओर तो क्षणमात्र के लिए ही जाती है और तत्काल पीठ दिखाकर चल देती है। केवल एक उसी (अपने चित चोर) के सामने पहुंचकर मंत्रित कटोरी की भांति रुक जाती है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

तुलनात्मक—एकैकशो युवजनं विलङ्घमानाक्ष निकर मिव बाला।
विश्राम्यति सुभग ! त्वामङ्गुलिरासाद्य मेरुमिव ॥
—आर्यासप्तशती

भाव—हे सुभग ! वह बाला एक-एक युवक को लांघती हुई तुझपर ही आकर ठहरती है। जैसे जप करते समय उंगली, माला के सब दानों से उतरती हुई सुमेरु (माला के बड़े दाने) पर जाकर रुक जाती है। "मेरो रुल्लङ्घनं

न कार्यमिति आपक सम्प्रदायः" अर्थात् जप करते समय मेरु का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ऐसा जापक भक्तों का नियम है। और भी—

अपनौ सौ इनपै जितौ लाज चलावत जोर।
किबलनुमा लों दृग रहैं, निरख मीन की ओर॥
—रसनिधि कृत 'रतन हजारा' से

ये दोनों उद्धरण पं० पद्मसिंह शर्मा कृत "बिहारी सतसई" से उद्धृत हैं।

भक्तिपरक

कौन भांति रहि है बिरदु, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मौसौं आई कै, गीधे गीधहिं तारि॥३१॥

शब्दार्थ—बीधे=उलझे। गीधे=लालची।

प्रसंग—भक्त का भगवान से आत्म-निवेदन।

अर्थ—हे मुरारि! अब मुझे यही देखना है कि आपका (पतित-पावन) विरद (यश) किस भांति स्थिर रहता है। अभी तो आपने केवल एक साधारण गिद्ध का ही उद्धार किया है, किन्तु अब आप मुझ महापापी (जिसे तारना सम्भव नहीं है) से आ उलझे हैं।

भक्त भगवान को किस चातुर्य से निज उद्धार के लिए अनुकूल कर रहा है। कैसा निराला ढंग है आत्म-निवेदन का।

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैंननु ही सब बात॥३२॥

प्रसंग—जन-समुदाय के बीच नायक-नायिका नेत्रों से ही भावों का आदान-प्रदान कर रहे हैं। यही बात एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

अर्थ—नायक-नायिका बड़ी चतुराई से, जन-समुदाय से भरे घर में भी नेत्रों के माध्यम से अपने प्रेमपूर्ण भावों का आदान-प्रदान कर रहे हैं। उनके नेत्र कभी कुछ कहते हैं, कभी निषेध करते हैं, कभी रीझते हैं—अनुकूल होते हैं, कभी रुष्ट हो जाते हैं, तो कभी परस्पर मिलकर एक होकर प्रसन्न हो उठते हैं और फिर (दूसरे लोग हमारे इस स्नेह सम्बन्ध को जान न लें इस आशंका से तथा स्वाभाविक रूप से भी) लजा जाते हैं।

संवाद शैली से अर्थ ऐसा होगा—

नायक (रतिपरक) कुछ संकेत देता है। नायिका (स्त्री स्वभाववश, चाहने पर भी) 'नहीं, नहीं' (उत्तर देती है)। नायक नायिका की इस नहीं-नहीं की वास्तविकता पर रीझ उठता है। उधर नायिका भी फिर (बनावटी ढंग से) रुष्टता प्रदर्शित करती है। तत्पश्चात् दोनों के नेत्र एक हो जाते हैं और प्रसन्नता से परिपूर्ण होकर लजा जाते हैं। उत्तरार्ध का अर्थ पहले जैसा ही है।

विशेष—१. परकीया नायिका और नायक के हावों और अनुभावों की अत्यन्त पैनी, पूर्ण सरस एवं सुलझी हुई व्यंजना बरवस ही मुग्ध कर लेती है। संक्षिप्तता, सरसता और पूर्णता पर वस्तुतः बिहारी का एकाधिकार है।

२. कितने उत्कट एवं उबलते हुए अनन्त भाव और उन्हें व्यक्त करने के लिए माध्यम हैं (जिह्वा रहित) नेत्र, उस पर भी जन-समुदाय की उपस्थिति में। पर क्या मजाल की भाव प्रकाशन में अपूर्णता रह जाए।

३. कवि की भाषागत सामासिकता एवं सम्वाद शैली भी वरेण्य है।

अलंकार—कारक दीपक—(प्रथम पंक्ति में)

"क्रमतें क्रिया अनेक कौ, एकै कर्ता होय"

(२) विभावना (तृ०) द्वितीय पंक्ति में।

ताही की चित चटपटी, धरत अटपटे पाइ।
लपट बुझावत विरह की, कपट-भरेऊ आय ॥३३॥

शब्दार्थ—चटपटी=तीव्र अभिलाषा। लपट=ज्वाला!

प्रसंग—खण्डिता नायिका की उक्ति नायक से।

अर्थ—प्रिय! (जिसके साथ रतिरत रहकर रात बिताई है) तुम्हारे मन में उसके लिए अब भी उत्कट अभिलाषा जाग रही है इसी से तुम्हारे चरण (मेरी ओर आते समय) कुछ लड़खड़ा से रहे हैं। (पर मैं परवश हूं) तुम यद्यपि कपट भाव से आए हो फिर भी तुम्हें देखकर (न जाने क्यों) मेरी विरह ज्वाला शान्त हो जाती है। (तुम्हारी मोहक मादक छवि के सम्मुख मुझे सपत्नी-दुख भूल जाता है)।

अलंकार—अनुमान, विभावना।

लखि-गुरुजन-बिच कमल सौं सीस छुबायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी, हिएं लगाई बाम ॥३४॥

प्रसंग—एक सखी दूसरी सखी से नायक-नायिका की सरस एवं चातुर्यपूर्ण चेष्टाओं को कह रही है।

अर्थ—श्याम ने नायिका को गुरुजनों के बीच देखकर अपना मस्तक कमल से लगाया (कमल सदृश नायिका के चरणों में अपना मस्तक रखकर स्नेह व्यक्त किया और नायिका ने नायक का भाव समझकर) अपनी आरसी (जेब में रखने का छोटा दर्पण) उसके सामने करके (अर्थात उसकी छवि उसमें उतार कर) फिर अपने हृदय से लगा ली। (यह प्रकट किया कि चरणों में तुम्हारा स्थान मेरे हृदय में है)।

अलंकार—सूक्ष्म।

पाइ महावर दैन कौं नाइन बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ ॥३५॥

शब्दार्थ—महावरी=महावर की गोली। मीड़ति जाइ=मसलती जाती है।

प्रसंग—सखियां नायिका को महावर लगाने वाली नाइन का उपहास करती हैं।

अर्थ—नाइन नायिका के पांव में महावर लगाने के लिए बैठी है (पर उस सुन्दरी का पैर महावर जैसा लाल पहले से ही है—स्वाभाविक रूप से), अतः नाइन भ्रम में पड़ जाती है) और नायिका के पैर को महावरी समझकर बार-बार मसल रही है।

अलंकार—भ्रम।

तोहीं निरमौहीं लग्यौ, मोही इहै सुभाउ।
अन आएं आवै नहीं, आएं आवतु आउ ॥३६॥

प्रसंग—प्रवासी प्रिय को नायिका का उपालंभ।

अर्थ—हे निष्ठुर प्रियतम ! मेरा हृदय तुम से कुछ ऐसी आसक्ति से लग गया है कि तुम्हारे न आने से वह भी मेरे पास नहीं आता (अर्थात मेरा चित्त उद्विग्न रहता है) और तुम्हारे आते ही वह भी आ जाता है (अर्थात मुझे मानसिक शान्ति मिल जाती है) अतः प्रार्थना है कि तुम आ जाओ।

अलंकार—यमक। पर्यायोक्ति—मन के मिष नायक को बुलाया गया है।

नेहू न नैननु कौं कछू, उपजी वड़ी बलाइ।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तउ न प्यास बुझाइ ॥३७॥

शब्दार्थ—नेहु=तेल, प्रेम। बलाइ=विपत्ति।

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी दुखियारी आंखों की दशा अपनी सखी से कहती है।

अर्थ—[मेरी आंखें स्नेह (प्रीति) को तो भुला चुकी हैं] यह मेरे नेत्रों में प्रेम (स्नेह की चमक) नहीं है अपितु कोई नेत्र-रोग ही उत्पन्न हो गया है, क्योंकि ये मेरे नेत्र सदैव अश्रुजल से भरे रहते हैं और फिर भी प्रिय दर्शन की तृषा शान्त नहीं होती।

अलंकार—श्लेष-मूलक रूपक (नेहु में)। विशेषोक्ति। हेत्वपह्नुति।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥३८॥

प्रसंग—कवि की भ्रमर के छल से, किसी परकीया में आसक्त व्यक्ति के प्रति उक्ति।

अर्थ—हे अली (भ्रमर, आसक्त व्यक्ति) अभी से इस कली (अविकसित

यौवना) में, जिसमें कि न पराग है, न स्वादिष्ट मधु है और न ही खिलावट आई है (यौवन आया है), तुम इस नौवना मे आसक्त हो उठे हो तो आगे उसके युवती होने पर तो न जाने तुम्हारी क्या दशा होगी।

अलंकार—अन्योक्ति।

तुलनात्मक—"जावण कोस विकासं पावइ ईसीस मालई कलिआ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्ल भमर तावच्चिय मलेसि ॥५।४४

संस्कृत छाया—यावन्न कोष विकासं प्राप्नोतीषन्मालती कलिका।
मकरन्दपान लोभयुक्त, भ्रमर ! तावदेव मर्दयसि ॥
(गाथा सप्तशती)
पं० पद्मसिंह शर्मा से सादर उद्धृत।

विरह

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसैं नीर हूं, झर हूं मिटैं न झार ॥३६॥

शब्दार्थ—सरसै=बढ़ती है। झर=झड़ी लगाकर पानी का बरसना। झार=जलन।

प्रसंग—सखी नायक से उसकी निष्ठुरता बताती हुई नायिका की विरह-दशा का उल्लेख करती है।

अर्थ—हे प्रिय ! तुम्हारे वियोग की अग्नि असह्य और अपार है। जल-सिंचन से और बढ़ जाती है तथा मेघों की झड़ी से (मूसलाधार वर्षा से) भी इसकी लपटें शान्त नहीं होतीं।

अलंकार—विशेषोक्ति। (झर हूं मिटैं न झार)—कारण होने पर भी कार्य न होना।

विभावना—(सरसै बरसैं नीर हूं)—

विभावना—कारण के अभाव में भी कार्य हो।

अग्नि की वृद्धि का कोई कारण नहीं है फिर भी सरस (बढ़) रही है।

देह दुलहिया की बढ़ै, ज्यौं ज्यौं जौबन-जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौत्यैं सबै, बदन मलिन दुति होति ॥४०॥

प्रसंग—सखियां नवयौवना (अंकुरित यौवना) के सौन्दर्य की परस्पर चर्चा करती हैं।

अर्थ—इस नवागना की अङ्गलता में ज्यों-ज्यों यौवन की चमक बढ़ती है त्यों-त्यों इसे देखकर इसकी सौतों के मुखों की कांति क्षीण होती जाती है। (क्योंकि नायक का खिचाव अब उस नवोढ़ा की ओर हो जाएगा)

अलंकार—उल्लास—"औरहि के गुण दोष तें औरहि के गुण दोष।"

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि।
ज्यौं आंखिनु सब देखियै, आंखि न देखी जाँहि ॥४१॥

शब्दार्थ—जनायौ=बताया। जिहिं=जिसने।

प्रसंग—किसी आत्मज्ञानी का स्वगत कथन।

अर्थ—जिस परमात्मा के (हृदयस्थ होने के कारण) द्वारा तूने समस्त संसार को जाना। (रे मुर्ख) तूने उसी (परम हितकारी) ईश्वर को नहीं समझा। ठीक ही है जैसे आंखें सारा विश्व देखती हैं पर वे स्वयं नहीं देखी जाती। (कैसा कृतघ्न है यह मानव)

अलंकार—उदाहरण।

मंगल बिंदु सुरंग मुखु ससि केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत ॥४२॥

शब्दार्थ—सुरंगु=लाल रंग की बिंदी। आड़=आड़ा तिलक। नारी=स्त्री, (२) वर्षा ज्ञान के लिए अपेक्षित सात नाड़ियों में से एक।

रस—यह शब्द भी श्लिष्ट है—(१)शृंगार रस, (२)जल।

प्रसंग—नायिका के मुख की सज्जा से प्रभावित नायक स्वगत कह रहा है।

अर्थ—एक ही सुन्दरी स्त्री ने अपने लालबिन्दुरूपी मंगल नक्षत्र, मुखरूपी चन्द्र एवं केसर के आड़े तिलकरूपी वृहस्पति (इन तीनों महान् ग्रहों को) एक साथ प्राप्त करके मेरे लोचन-रूपी-जगत को रसमय (स्नेहपूर्ण, जलपूर्ण) कर दिया।

विशेष—जब मंगल, चन्द्र एवं वृहस्पति की स्थिति एक ही राशि पर होती है तो अतिवृष्टि का योग होता है। वर्षा के पक्ष में भी उक्त आधार पर अर्थ लग सकता है।

अलंकार—श्लेषपुष्ट साङ्गरूपक।

पिय तिय सौं हँसि कै कह्यौ, लखै दिठौना दीन।
चंदमुखी मुख चन्दु तैं भलौ चंद-समु कीन ॥४३॥

प्रसंग—नायक की नायिका से उसके मुख-सौन्दर्य पर रीझने पर उक्ति।

अर्थ—प्रिय प्रिया के सुन्दर मुख पर दिठौना देखकर (उसके सौन्दर्य को और अधिक प्रभावक पाया) प्रसन्न हुआ और बोला, हे चन्द्रमुखी! आज तो तुमने अपना मुख पूर्ण चन्द्र सदृश कर दिया है।

अलंकार—व्यतिरेक, उपमा।

कौंहर सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावर देइ की, आप भई बे-पाइ ॥४४॥

शब्दार्थ—कौंहर=इन्द्रायन का फल। बे-पाइ=उपाय रहित, हतबुद्धि।

प्रसंग—सखी सखी से कहती है।

अर्थ—उस सुन्दरी की इन्द्रायन के फल जैसी सुर्ख एड़ियों को देखक नाइन हतबुद्धि हो गई है अब पैरों में महावर लगावे तो कौन लगावे।

अलंकार—पूर्णोपमा, यमक।

खेलन सिखए अलि भलैं, चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार ॥४५॥

शब्दार्थ—भलैं=भलीभांति, पूर्णतया। अहेरी मार=कामदेव रू शिकारी। कानन चारी—यह शब्द श्लिष्ट है—(१) कानों तक लम्बे, (२ बन में विहार करने वाले।

प्रसंग—नायिका की अन्तरङ्गिनी सखी उसके मादक एवं घातक नेत्रों कं प्रशंसा के छल से नायक के घायल होने का वृत्तान्त भी दे देती है।

अर्थ—हे सखी! कामदेव रूपी चतुर शिकारी ने तेरे कर्णायत नेत्रों (नं रूपी मृगों को) को बड़ी सावधानी—दक्षता से नागरिकों का शिकार करन सिखा दिया है अर्थात् तेरे विशाल मदभरे नेत्रों से अब काम की तीव्रता झलकं लगी है। तुझे प्रिय-संयोग अपेक्षित है और तेरे प्रिय को तो है ही।

दृष्टव्य—नरनु शब्द बहुवचन है जिसका अर्थ है पुरुषों का। इससे नायिक 'गणिका नायिका' प्रतीत होती है।

अलंकार—रूपक, श्लेष।

प्रायः शिकारीजन मृगों का शिकार करते हैं यहां मृगों द्वारा शिकारियं का शिकार किया गया है यही विलक्षण बात है।

तुलनात्मक—प्रेम अहेरी की अरे, यह अद्भुत गति हेर।
कीने दृग-मृग मीत के मन चीते पर सेर ॥६२०॥

—रतन हजार

तथा— सिफ़ाक[1] चितवनें भी हैं, क़ातिल नज़र भी है।
क्या चीज़ हो गये हो, तुम्हें कुछ खबर भी है॥

—जिगर मुरादाबादं

रस सिंगार-मंजनु किए, कंजनु-भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूं बिना, खंजनु गंजनु नैन ॥४६॥

प्रसंग—नायक द्वारा नायिका के नेत्रों की प्रशंसा।

अर्थ—हे कमलनयने! तेरे शृंगार रस में डूबे हुए (हाव-भाव कटाक्षादि से युक्त) नेत्र अपनी स्वच्छता से कमलों की निर्मलता और प्रफुल्लता को नष्ट करते हैं और ये नेत्र निरंजन हैं (स्वाभाविक श्यामता से युक्त हैं) फिर भी

१. मारक, निष्ठुर।

खंजन की श्यामता को तिरस्कृत कर रहे हैं।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, प्रतीप।

ध्वनि—तिरस्कृत वाच्यध्वनि।

तुलनात्मक—वह चेहरा है पुरनूर[1] कि अल्लाह की कुदरत।
वह आंख है मख्मूर[2] कि हाफिज़[3] की ग़ज़ल है॥
—जिगर

साजे मोहन मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं उलटे पर, टौनै लौनै नैन॥४७॥

शब्दार्थ—लौनै=नमक और राई से किया गया टोटका लौनाना कहलाता है। इससे दूसरे की कुदृष्टि का प्रभाव लौट जाता है। (२) नायक के लिए लावण्यमय किए।

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका का सखी के प्रति वचन।

अर्थ—मैंने तो अपने नेत्र मोहन को मोहित करने के लिए सुसज्जित किए। पर हाय, ये तो (मोहन को न मोहकर मुझ को ही) मोहन के लिए विकल कर रहे हैं। यह तो मेरा टौना मुझपर ही उल्टा पड़ा।

अलंकार—विषम, यमक, परिकरांकुर। विषाद संचारी।

याके उर औरै कछु, लगी विरह की लाइ।
पजरै नीर गुलाब कैं, पिय की बात बुझाइ॥४८॥

शब्दार्थ—पजरै=प्रज्वलित होती है।

प्रसंग—सखी द्वारा सखी से वियोगिनी नायिका की दशा का कथन।

अर्थ—इसके हृदय में विरह की ऐसी विलक्षण आग लगी है कि गुलाब-जल डालने से (शीतोपचार करने से) और प्रज्वलित होती है तथा प्रिय की बात (चर्चा रूपी वायु) से शान्त हो जाती है।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति, विभावना।

कहा लेहुगे खेल पै, तजौ अटपटी बात।
नैक हंसौ ही हैं भईं, भौंहैं सौंहैं खात॥४९॥

प्रसंग—मानवती नायिका अनुकूल हो रही थी कि नायक ने फिर कुछ अप्रिय बात कह दी। सखी नायक को समझा रही है।

अर्थ—तुम (नायिका को चिढ़ाने के लिए उपनायिका का नामादिक लेते हो) खेल मत करो, इसमें क्या रखा है, ऐसी अनुचित एवं अप्रासंगिक बात

१. ज्योतिर्मय।
२. खुमारी से भरी।
३. फ़ारसी के प्रसिद्ध शायर जिनकी रचनाएं मस्ती की शराब से तर

न करो। देखो बड़ी कठिनता से, शपथ से विश्वास दिलाकर इसकी भौहें अभी ही सीधी हुई हैं।

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकैं न।
मो मन-मृगु करबर गहैं, अहे अहेरी नैन ॥५०॥

शब्दार्थ—डारी=डाल, शाखा। नील की=नीली। करबर=चित चीता "(सारोपा लक्षण) यहां वर्ण्यमान नयन की अप्रकृत कर्बुर के साथ है।" [रत्नाकर से]

प्रसंग—नायक का वचन नायिका से।

अर्थ—हे सुन्दरी ! तुम्हारे चीते (चितकवरे-कैंरे तथा चीता सदृश नयन नीली साड़ी रूपी डाली की अचूक ओट में मेरे मन-रूपी मृग पक नहीं चूकते। चीते की क्रिया में और तुम्हारे नयनों में सादृश्य है— मृगों का शिकार करता है और तुम नयनों का।

अलंकार—रूपक।

दीरघ सांस न लेहु दुःख, सुख साईं हिं न भूलि।
दई-दई क्यों करतु है, दई-दई सु कबूलि ॥५१॥

प्रसंग—(रे मनुष्य) तू दुःख में लम्बी (घबराहट भरी) सांसें न ले सुख में ईश्वर को न भुला। हाय रे भाग्य, हाय रे भाग्य क्यों करता है दैव ने दिया है उसे (धैर्य के साथ) स्वीकार कर।

अलंकार—यमक।

ग्रीष्म ऋतु

बैठी रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाहों चाहति छाँह ॥५२॥

शब्दार्थ—सदन-तन=मकान की दीवार और छज्जे, या गृह-पिण् छांह=आच्छादन अथवा विश्राम।

प्रसंग—कामातुर नायिका चातुर्य से अपना मनोभाव नायक से व्य कर रही है।

अर्थ—(प्रियतम ! ऐसे असह्य घाम में आपका घर के बाहर जाना ठी नहीं है) देखो, इस ज्येष्ठ मास की भयंकर दुपहरी से त्रस्त होकर छाया छिपना चाह रही है। इसीलिए वह कहीं तो अत्यन्त घने बन में जा बैठी और कहीं घरों के छज्जों और दीवारों में सटकर बैठ गयी है।

दोहे के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—

वृक्षों के पिण्ड (रूपी गृहों) के नीचे घुसकर घने बनों में बैठ रही विश्राम ले रही है।

लंकार—अत्युक्ति ।

नोदन

हा हा ! बदनु उघारि, दृग सफल करैं सबु कोइ ।
रोज सरोजनु कैं परै, हंसी ससी की होइ ॥५३॥

ार्थ—सरोजनु=नयन रूपी कमल (लक्षणा बल से) ।

—खण्डिता नायिका ने मान किया है, सखी उसे अनुकूल करने के
ासात्मक वाक्य कहती है ।

—हे सखी ! मैं तेरे निहोरे (अनुनय) करती हूं, तू अपने मुख को
कर दे जिससे हम सभी (और यह छलिया नायक भी) अपनी आंखें
लें । तेरे मुखचन्द्र के प्रभाव से कमल आपत्ति में पड़ जाएंगे और
लज्जा का पात्र बनेगा । (नायक के नेत्र-कमल भी लज्जित होंगे)

:—प्रतीप (उपमान की उपमेय रूप से कल्पना) ।

विरह

होमति सुखु, करि कामना, तुमहिं मिलन की, लाल ।
ज्वाल मुखी-सी जरति लखि, लगनि-अगनि की ज्वाल ॥५४॥

र्थ—लगनि-अगनि=प्रेम की अग्नि ।

—पूर्वानुरागिनी नायिका विरह से दग्ध हो रही है । सखी नायक से
िरह निवेदित करती है ।

—हे लाल ! वह (आप पर अनुरक्ता) प्रीति रूपी अग्नि की
ी-सी ज्वाला को जलता देखकर, आपसे मिलने की कामना लिए
सभी सुखों को उस ज्वाला में होम रही है । (अतः आपकी अधिक
अच्छी नहीं है ।)

कार—पूर्णोपमा ।

दर्य

सायक-सम मायक नयन, रंगे त्रिबिध रंग गात ।
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात ॥५५॥

ार्थ—सायक=संध्याकाल (सायक को शायक का अपभ्रंश रूप मानकर
अर्थ सुलाने वाला समय अर्थात संध्याकाल करना चाहिए ।) 'रत्नाकर'
=मायावी (हाव-भाव आदि से युक्त), सन्ध्यापक्ष में रंग परिवर्तन में
त्रिबिध रंग=सन्ध्या के श्वेत, श्याम, लाल रंग । नेत्रों के भी ये रंग

प्रसंग—(१) नायक नायिका के नेत्रों की मादकता से रीझकर स्वगत कह रहा।

अथवा

नायिका (अभिसारिका) को किसी जलाशय के समीप बैठाकर आयी हुई दूती नायक को बड़ी चातुरी से उसकी सूचना देती है'।

अर्थ—सन्ध्याकाल के समान चंचल एवं श्वेत-श्याम तथा अरुण वर्ण के शरीर वाले (उस रूपसी) के (प्रफुल्ल) नेत्र देखकर जलाशय के कमल लज्जित होते हैं तथा मछलियां (उनकी विशालता) देखकर जल की गहराइयों में स्वय को छिपा लेती हैं।

सन्ध्या समय भी ऐसा ही होता है। कमल संकुचित हो जाते हैं और मछलियां पानी के नीचे चली जाती हैं।

विशेष—चतुर दूती ने नायक को नायिका के आकर्षक नेत्रों के साथ उसके मिलन का स्थान और समय (जलाशय और सन्ध्या) भी सूचित कर दिया।

अलंकार—उपमा, यमक, व्यतिरेक।

ध्वनि—तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुंह आहि न आहि ॥५६॥

प्रसंग—प्रोषित पतिका नायिका विरह की जड़ता दशा को प्राप्त हो गयी है, यही बात एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

अर्थ—अरी! यहां खड़ी-खड़ी क्या कर रही है? चलकर देख तो उसकी व्यथा टल गयी है कि वह मरी पड़ी है। अरी! वह तो बहुत कराह-कराह कर इतनी क्षीण-शक्ति हो गयी है कि उसके मुंह से तो अब आह भी नहीं निकलती है।

अलंकार—छेकानुप्रास, वीप्सा, यमक, सन्देह

कहा भयौ, जु बीछुरे, मो मनु तो मन साथ।
उड़ी जाउ कित हूं, तऊ गुड़ी उड़ायक हाथ ॥५७॥

शब्दार्थ—गुड़ी=पतंग। कित हूं=किसी भी तरफ। तऊ=तो भी।

प्रसंग—परकीया नायिका किसी कार्य से दूसरे गांव चली गयी है पर अपने प्रेमी को नहीं भुला सकी। उसी का नायक को भेजे हुए पत्र का यह दोहा है।

अर्थ—(यदि इस समय परिस्थितिवश शारीरिक रूप से) हम दोनों एक-दूसरे से बिछुड़ गए हैं तो क्या हुआ? मेरा तो सदैव तुम्हारे हृदय के साथ ही सम्बन्ध है। पतंग उड़कर किसी ओर भी चली जाए, उसकी डोर तो उड़ाने

वाले के हाथ में है ही (अर्थात् आपके एक हल्के से संकेत के झटके से मैं तुम्हारे पास आ जाऊंगी, तुम्हारी ही हूं)।

अलंकार—दृष्टान्त।

लखि लोने लोइननु कैं कोइनु, होइ न आजु।
कौनु गरीबु निवाजिबौ, कित तूठयौ रतिराजु ॥५८॥

शब्दार्थ—लोने=सौन्दर्ययुक्त। लोइननु=नेत्रों के। कोइनु=आंख की पुतली के ऊपर नीचे के सफेद हिस्से। गरीब—(बड़ी मार्मिक व्यञ्जना है) भोले, उपेक्षित—अर्थात् किसी उपेक्षित का आज भाग्योदय होना है। निवाजिवौः=कृपा करना। तूठयो=तुष्ट हुआ है। रतिराज=काम। लखि होइ न आजु=आज लक्षित नहीं हो पा रहा है—समझने में कठिनाई हो रही है।

प्रसंग—स्वेच्छाचारिणी कुलटा नायिका के कोयों में काम की तीव्र झलक देखकर सखी ने परिहास किया है।

अर्थ—सुन्दरी ! तुम्हारे सलोने नेत्रों के कोयों की निराली छटा देखकर (तुम्हारी उपनायक से मिलनेच्छा का अनुमान तो होता है) परन्तु यह फिर भी लक्षित नहीं होता कि आज (इस घातक दृष्टि के माध्यम से) कामदेव किस उपेक्षित व्यक्ति पर प्रसन्न हुआ है। अर्थात तुम्हारा कृपापात्र (रतिदान के कारण) आज कौन बनेगा ?

अलंकार—पर्यायोक्ति—(कछु रचना सों बात)—वचन रचना एव नेत्र क्रिया से रति लक्षित हैं।

काकु—'किन तूठयौ रतिराज' में।

अनुभावों (नेत्र क्रिया) की छटा वरेण्य है।

सीतलताऽरु सुबास कौ, घटै न महिमा-मूरु।
पीनस वारैं जौ तज्यौ, सोरा जानि कपूरु ॥५९॥

शब्दार्थ—मूरु=मूलधन, असलियत। पीनस=नाक का एक रोग जिसके कारण नाक के सूंघने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

प्रसंग—कवि की उक्ति।

अर्थ—शीतलता और सुगन्ध का वास्तविक मूल्य—(लोक-प्रसिद्धि) कदापि कम नहीं हो सकता यदि एक (गुण ग्राहकता में असमर्थ) नाक का रोगी कपूर को सोड़ा समझकर त्याग दे तो इससे कपूर सोड़ा नहीं हो जाएगा।

अलंकार—अन्योक्ति।

कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेसु लजात।
कहि है सबु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात ॥६०॥

प्रसंग—प्रोषित पतिका द्वारा नायक के प्रति लिखे गए पत्र में विरह-

निवेदन किया गया है।

अर्थ—(विरह व्यथा की तीव्रता के कारण नायिका कंप, वेग, स्वेद, अश्रु आदि से भर उठती है, अतः उसने कहा है)—प्रिय ! पत्र लिखने की तो मुझमें शक्ति नहीं रही और किसी (पथिक) से (मन की बात) कहने में लाज लगती है। (अतः मेरा यही निवेदन है कि) मेरी दशा जानना चाहते हो तो अपने हृदय से पूछ लो। (क्योंकि सच्चे प्रेमी समान रूप से दुःखी-सुखी होते हैं)

अलंकार—विरोधाभास।

बन्धु भये का दीन के को तारयौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद कहाइ ॥६१॥

प्रसंग—भक्त का निवेदन भगवान से।

अर्थ- हे रघुराज (राम) आप संसार में किसके बन्धु बने हैं। (किसकी रक्षा सहायता की है) और किस अधम का उद्धार किया है ? आप तो (दीन-बन्धु और पतित-पावन) झूठा ही यश प्राप्त कर सन्तुष्ट हुए फिरते हैं।

भक्त का कैसा आग्रह भरा तक़ाज़ा है भगवान से। मित्रता, आत्मीयता तथा प्यार के वातावरण में उपालम्भ भी कितने मृदु लगते हैं।

जब जब वै सुधि कीजिए, तब तब सब सुधि जाँहि।
आंखिनु आंखि लगी रहैं, आंखें लागति नाँहि ॥६२॥

शब्दार्थ—सुधि=स्मृति। सुधि=चेतना।

प्रसंग—वियोगिनी अपनी दशा सखी से कहती है।

अर्थ—जब जब मैं उनका (प्रिय का) स्मरण करती हूं तब तब मेरी सम्पूर्ण चेतना चली जाती है। (अर्थात मैं स्वयं को खो बैठती हूं)। उनकी सलौनी आंखों से मेरे हृदय की आंख लगी रहती है (मैं उनके ध्यान में डूबी रहती हूं) अतः आंखों में नींद नहीं आती।

दृष्टव्य—जब से तेरी नज़र पड़ी है झलक।
तब से लगती नहीं पलक से पलक॥

—हातिम

अलंकार—विरोधाभास, यमक।

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत हैं, ए बदरा बदराह ॥६३॥

शब्दार्थ—नाह=नाथ। बदाबदी=चुनौती देकर। ज्यौं=प्राण। बदराह=कुमार्ग गामी लुटेरे।

प्रसंग—प्रोषितपतिका सखी से निज विरह-वेदना कह रही है।

अर्थ—जब प्राणनाथ ने ही मुझे भुला दिया तो अब मेरी (वेदना) कौन सुनेगा, किससे कहू ? (हाय रे) ये (उमड़-घुमड़ कर आए हुए बादल) लुटेरे

बादल तो चुनौती देकर खुल्लमखुल्ला मेरे प्राण लिए लेते हैं। (प्रिय ! शीघ्र आओ, अन्यथा तुम्हारी थायी की रक्षा न हो सकेगी।)

अलंकार—परिकर।

भाव—उद्दीपन विभाव।

तुलनात्मक—इक तो मदन-विसिख लगे, मुरछि परी सुधि नाँहि।
दूजे बद बदरा अरी, घिरि घिरि विस वरसाहि॥३५६॥
—शृंगार सतसई
पं० पद्मसिंह शर्मा से सादर उद्धृत

मैं हो जान्यौ, लोइननु, जुरत बाढ़िहै जोति।
को हो जानतु दीठि कौं, दीठि किरकिटी होति॥६४॥

शब्दार्थ—किरकिटी=आंख में पड़कर कष्ट देने वाला धूलिकण अथवा तृणादिक।

प्रसंग—पूर्वानुरागी नायक अपने सखा से।

अर्थ—मैं तो समझता था कि आंखें चार होने से प्रसन्नता की ज्योति में विस्तार होगा। यह कौन जानता था कि (किसी की दृष्टि की एक झलक) एक दृष्टि दूसरी दृष्टि के लिए किरकिटी भी बन जाती है। (अर्थात प्रीति इतनी तीव्र हो गई है कि अब तो उन्हें देखे बिना आंखें आंसुओं से तर रहती हैं।)

अलंकार—विषम।

तुलनात्मक—उनसे निगाह मिलते ही दिल पर लगी वह चोट।
बिजली सी अपनी आंखों के नीचे चमक गई॥

गहकि, गांसु औरै गहे, रहे अधकहे बैन।
देखि खिसौंहैं पिय नयन, किए रिसौंहैं नैन॥६५॥

शब्दार्थ—गहकि=उल्लास भरे हुए। गांसु=अपराध के कारण पकड़े जाने से आशंकित—आकृति पर अपराध की झलक। खिसौंहैं=अपराध से कुछ-कुछ लज्जित। रिसौंहैं=क्रोधपूर्ण।

प्रसंग—खण्डिता नायिका का सकारण मान देखकर एक सखी दूसरी से कहती है।

अर्थ—नायिका ने नायक से बड़े उमंग भरे शब्दों में वार्ता प्रारम्भ की परन्तु बीच में ही उसे प्रिय की अपराध (अन्या से रति के कारण) भरी लज्जालु आंखें देखकर आंखों में क्रोध आ गया और बात (प्रियप्रिया मिलन की) अधूरी रह गयी।

अलंकार—अनुमान।

मैं तो सौं कैवा कह्यौ, तू जिन इन्हैं पत्याइ।
लगा लगी करि लोइननु, उर में लाई लाइ ।।६६।।

प्रसंग—पूर्वानुराग के कारण दुखिनी नायिका को सखी सान्त्वना दे रही है।

अर्थ—मैंने तुझसे कितनी बार कहा है कि तू इन आंखों का विश्वास मत कर। इन आंखों ने तो लगा लगी (रीझकर प्रेमपूर्ण भावों का आदान प्रदान) आरम्भ कर दिया और (परिणाम यह हुआ कि तेरे) हृदय में (अब विरह की) आग लग गयी है। (अर्थात इन विश्वासघाती नेत्रों के कारण आज तेरे हृदय की चोरी हो गई है)

अलंकार—असंगति

वर जीते सर मैंन के, ऐसे देखे मैंन।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि, नीके ए नैन ।।६७।।

प्रसंग—सखी नायक से नायिका के नेत्रों की प्रशंसा कर रही है।

अर्थ—हे हरि! इस सुन्दरी के ये नयन तो हरिनी के नेत्रों से अधिक आकर्षक हैं। (अपनी तीक्ष्णता से) इन आंखों ने तो काम के बाणों को भी जीत लिया है। मैंने तो ऐसे (हृदयहारी एवं प्रहारी) नेत्र (अभी तक) नहीं देखे।

अलंकार—स० यमक, व्यतिरेक, काव्य लिङ्ग।

ध्वनि—तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

थोरे ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हूं, कान्ह, मनौ भये, आज कालिह के दानि ।।६८।।

प्रसंग—कवि भंग्यन्तर से आत्मोद्धार के लिए भगवान से निवेदन करता है।

अर्थ—हे कृष्ण, पहले तो तुम भक्त के थोड़े से गुणों पर ही रीझ जाते थ। वह सरल एवं उदार प्रकृति तुमने भुला दी है। ऐसा लगता है कि आजकल के दानियों जैसी कृपणता आप में भी आ गई है।

अंग-अंग-नग जग मगत, दीप सिखा सी देह।
दिया बढाएं हूं रहै, बड़ौ उज्यारौ गेह ।।६९।।

शब्दार्थ—बढाएं=बुझाने पर।

प्रसंग—सखी द्वारा नायक से नायिका की चमकीली छवि की प्रशंसा।

अर्थ—उसके अंग प्रत्यंग के रत्न, नग एवं मणि आदि से जटित अलंकारो से उसकी देह दीपशिखा सदृश लगती है। इसके कारण घर में दीपक बुझा देने पर भी प्रकाश रहता है।

अलंकार—उपमा (धर्मलुप्ता), पूर्वरूप।

वय: सन्धि

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि, दिपति ताफता-रंग ।।७०।।

शब्दार्थ—दीपति-दीप्ति=चमक, कान्ति। ताफता रंग=धूपछांह का रंग।

प्रसंग—नायिका की वय: सन्धि का वर्णन नायक द्वारा स्वगत।

अर्थ—(धन्य है) अभी उसके शरीर से शैशव (बालापन) की आभा नहीं गई है (अर्थात् बालापन के कुछ चिन्ह—चंचलता, भोलापन, निर्भीकता आदि शेष हैं) और अंगों में यौवन झलकने लगा है। इन दोनों झलकों के मिश्रण से उसकी अङ्गलता धूपछांह की कान्ति से जगमगा उठी है।

अलंकार—वाचकलुप्तोपमा।

तुलनात्मक—कुछ जवानी है अभी कुछ है लड़कपन उनका।
दो दगाबाज़ों के कब्ज़े में है जोबन उनका ।।
—मुनीर

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाय।
तुमहूं लागी जगत गुरु, जग नाइक, जग-बाय ।।७१।।

शब्दार्थ—जग-बाय=संसार की हवा, संसार का खोटा प्रभाव।

प्रसंग—भक्त का भगवान से निवेदन।

अर्थ—हे श्याम ! मैं दीर्घकाल से अत्यन्त दीनतापूर्वक आपको (निज उद्धारार्थ) पुकार रहा हूं; परन्तु (मेरा दुर्भाग्य है कि) आप मेरी सहायता—रक्षा नहीं करते हैं। (कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि) हे संसार के रक्षक एवं नियन्ता भगवन ! तुम को भी संसार की दूषित (स्वार्थादि से) हवा ने प्रभावित कर दिया है। (साधारण-जन संसार की कुरीतियों से प्रभावित हों तो कोई बात नहीं पर आपका प्रभावित होना एक बहुत बड़ा आश्चर्य है।)

सकुचि न रहिए, स्याम, सुनि ए सतरौंहैं बैन।
देत रचौंहै चित कहे, नेह नचौंहैं नैन ।।७२।।

शब्दार्थ—सतरौंहैं=तने हुए—क्रोधयुक्त। रचौंहैं=अनुकूलता के निकट—प्रसन्न होने ही वाले हैं।

प्रसंग—मानिनी नायिका को अनुकूल करने में नायक का धैर्य छूटने लगा है। सखी उसे सफलता का विश्वास दिला रही है और कह रही है अब उसकी प्रसन्न होने में देर नहीं है।

अर्थ—हे श्याम ! आप इसके ये तीखे वचन सुनकर धैर्य न छोड़ें (इसे थोड़ा और मनाइए)। देखिए अब तो उसकी स्नेह से नर्तित आंखें उसके हृदय रागाकुल दशा भी प्रकाशित किए दे रही हैं।

विशेष—१. मध्यस्था-सखी का कार्य (प्रिय-प्रिया के मिलन में) कितना महत्त्वपूर्ण होता है—कोई बिहारी से पूछे।
२. अनुभवों की मार्मिक छटा किसे आकृष्ट नहीं करती।
३. भाषा के अंग-अंग से भावों के चिह्न उभर रहे हैं।

अलंकार—विरोधाभास, काव्यलिङ्ग।

तुलनात्मक—क़िस्मत पै उस मुसाफिरे खस्ता के रोइए।
जो थक गया हो बैठ के, मंज़िल के सामने ॥

पत्राहीं तिथि पाइयै, वा घर कै चहुं पास।
नित प्रति पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास ॥७३॥

प्रसंग—सखी नायक से नायिका के मुख की प्रशंसा करती है।

अर्थ—उस (सुन्दरी) के घर के चारों ओर पत्रा द्वारा ही तिथि ज्ञात की जाती है क्योंकि उसके मुख-चन्द्र की कान्ति के कारण वहां सदैव पूर्णिमा ही रहती है।

अलंकार—परिसंख्या—प्रतीयमान (चन्द्र) का निषेध।
काव्यलिङ्ग—उत्तरार्ध में हेतु प्रस्तुत है।

तुलनात्मक—आज की रात जो तू, मह के मुकाबिल हो जाए।
चांदनी मैली हो धुलवाने के काबिल हो जाए।

बसि सकोच-दसबदन-बस, सांचु दिखावति बाल।
सियलौं सोधति तिय तनहिं, लगनि अगनि की ज्वाल ॥७४॥

प्रसंग—सखी पूर्वानुरागिनी की विरह दशा का उल्लेख नायक से कर रही है।

अर्थ—(अब तक तो) वह बाला संकोच रूपी रावण के वशीभूत थी (अतः निज अनुराग को प्रकट न कर सकी)। परन्तु अब वह अपने प्रेम की वास्तविकता प्रकट कर रही है। प्रेमाग्नि की असह्य ज्वाला में वह बाला अपने शरीर को सीताजी की भांति शुद्ध कर रही है।

(सीताजी ने भी रावण के वश में रहने का प्रायश्चित किया था।)

अलंकार—साङ्गरूपक।

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरी मुकति-मुंह दीन।
जौ लहिए संग सजन, तौ धरक नरक हूं की न ॥७५॥

प्रसंग—ज्ञानी उद्धव के प्रति प्रिय-प्राणा गोपियों की उक्ति।

अर्थ—ऐसी मुक्ति के मुंह में हम (गोपिकाएं) धूल झौंकती हैं यदि उसमें प्रिय-मिलन की कोई युक्ति नहीं है। (प्रियतम का संग हमारा सर्वस्व है)

यदि हमारे प्राणाधार प्रियतम साथ हैं तो नर्क की भी रंचमात्र चिन्ता नहीं है। (अर्थात् प्रियतम के साथ रहकर नर्क भी हमें मुक्ति का आनन्द देगा और उनके बिना मुक्ति भी नर्क से अधिक दु:खदायिनी होगी।)

अलंकार—काव्यलिङ्ग, अनुज्ञा।

तुलनात्मक—न जाऊंगा कभी जन्नत को मैं न जाऊंगा।
अगर न होवेगा नक्शा तुम्हारे घर का सा ॥
—'मोमिन'

चमक, तमक, हांसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहि रति, सो रति मुकति, और मुकति अति हानि ॥७६॥

शब्दार्थ—चमक=अंगों का शीघ्र-संचालन। तमक=उत्तेजना। ससक=सिसकियां भरना। मसक=अंगों का मर्दन। झपट=सहसा वेग से टूट पड़ना।

प्रसंग—किसी कामी द्वारा रति की प्रशंसा की गई है।

अर्थ—जिस रति में चमक, तमक आदि वेग और उत्तेजनापूर्ण भाव हों वह रति ही मुक्ति है। उसके अतिरिक्त दूसरी (ज्ञानियों द्वारा बताई हुई) मुक्ति तो साक्षात् सर्वनाश है!

अलंकार—व्यतिरेक, पुनरुक्ति दोष।

विशेष—१. अभिधामूलक स्थूल एवं अश्लील चित्रण। यह तो विलास का नग्न विज्ञापन है।

२. कवित्त्व का भी इसमें अभाव है।

स्थूल भाव-साम्य की दृष्टि से—

सन्दल सी वो कलाइयां, अपने गले में हों।
हथफेरियां नसीब हों, चन्दन सी रान पर ॥
—सबा

मोहूं सौं तजि मोंहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छ्वाइ छबि-गुर-डरी, छले छबीले छैल ॥७७॥

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका सखी से।

अर्थ—एक क्षण छवि रूपी गुड़ की डली छुलाकर उस छबीले रसिया ने मेरे नेत्रों को ठग लिया (उन पर जादू कर दिया)। और मुझसे भी नाता तोड़कर अब तो ये नेत्र उसी के साथ चल दिए।

अलंकार—रूपक, वृत्यनुप्रास।

कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच-अंगुरि-बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार ।।७८।।

शब्दार्थ—ब्यौरति=सुलझाती है।

प्रसंग—नायिका की चातुर्यपूर्ण चेष्टा की चर्चा सखी सखी से करती है।

अर्थ—वह सद्यः स्नात कमलनयना बैठकर बाल सुलझा रही है (साथ ही छलपूर्वक) बालों और उंगलियों के बीच में दृष्टि डालकर अपने प्रिय कृष्ण को देख रही है।

अलंकार—पर्यायोक्ति।

पावक सौ नयननु लगै, जावकु लाग्यौ भाल।
मुकुरु होहुगे नैक मैं, मुकुरु बिलोकौ लाल ।।७९।।

शब्दार्थ—जावक=महावर। मुकुरु=अस्वीकार करना। मुकुरु=दर्पण।

प्रसंग—खण्डिता नायक के ललाट पर महावर लगा देखकर कहती है।

अर्थ—हे लाल! तुम्हारे भाल पर लगा हुआ यह महावर (किसी को अनुकूल करने के लिए उसके पैरों में मस्तक रगड़ने से) मेरी आंखों को अग्नि सदृश लगता है। अभी दर्पण में देख लो, अन्यथा थोड़ी ही देर में (उसके मिटते ही) तुम्हें मुकरते देर न लगेगी।

अलंकार—उपमा, यमक।

रहति न रन, जय साहि-मुख लखि, लाखनु की फौज।
जांचि निराखरऊ चलै लै, लाखनु की मौज ।।८०।।

शब्दार्थ—लाखनु=महाराज जयशाह का एक प्रबल शत्रु। लाखनु=लाखों रुपये। निराखरऊ=निरक्षर भी।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने राजा जयशाह की युद्ध-वीरता एवं दान-वीरता की प्रशंसा की है।

अर्थ—प्रतापी महाराज जयशाह का मुख देखते ही लाखन जैसे शत्रु की सेना रणभूमि में नहीं ठहरती। तथा याचना करने पर निरक्षर व्यक्ति भी लाखों का दान लेकर लौटता है।

अलंकार—यमक।

दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भांति अएरि।
जापै सुख चाहतु लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ।।८१।।

शब्दार्थ—अएरि=स्वीकार कर।

प्रसंग—किसी दुःखी के प्रति कवि की उक्ति।

अर्थ—ईश्वर ने (सुख अथवा दुःख) जो कुछ भी दिया है। उसे भली-भांति—प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर। जिससे सुख की आकांक्षा करता है उसके

दुःख को भी मत लौटा।

तरिवन-कनकु कपोल-दुति, बिच बीच हीं बिकान।
लाल लाल चमकति चुनीं, चौका चीन्ह समान ॥८२॥

शब्दार्थ—तरिवन=कर्णभूषण, तरकिया, तरौना। चौका=आगे के चार दांत।

प्रसंग—रतिलक्षिता नायिका से सखी का व्यंग्य वचन।

अर्थ—तुम्हारे कर्णभूषणों का सोना तो सुनहले कपोलों की कान्ति में ही अन्तर्हित हो गया; पर उनमें जड़ी हुई चुन्नियां (लाल मणियां) दन्तक्षत के समान लाल-लाल चमक रही हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा, अपन्हुति।

मोहि दयौ, मेरौ भयौ, रहतु जु मिलि जिय साथ।
सो मनु बांधि न सौंपियै, पिय, सौतिनि कैं हाथ ॥८३॥

प्रसंग—नायक को सपत्नीरत देखकर नायिका का निवेदन।

अर्थ—हे प्रिय! मुझे दिया हुआ अपना मन, जो कि अब मुझसे (मेरे मन से) मिलकर मेरे ही साथ रहने लगा है। अब उस मन को आप मेरी सौत को न दें (इससे मेरा जी टूट जाएगा)।

कुंज-भवनु तजि भवन कौं, चलिए नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट[1] चहुं ओर ॥८४॥

प्रसंग—उपपति से रातभर रतिरत रही परकीया प्रभात होने के पूर्व ही घर चली जाना चाहती है (कुल-लज्जा आदि के कारण)। उसी का निवेदन है।

अर्थ—हे नन्दकिशोर! अब इस लतागृह को छोड़कर हमें निजगृह चलना चाहिए। गुलाब की कलियां फूलकर महक उठी हैं और चारों ओर चिड़ियों का चहचहाना भी प्रारम्भ हो गया है।

अलंकार—काव्यलिङ्ग।

कहति न देवर की कुबत, कुल-तिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार ढिग, सुक ज्यौं सूकत जाति ॥८५॥

शब्दार्थ—कुबत=खोट, दुर्व्यवहार। मंजार=बिल्ली।

प्रसंग—मनचला देवर भाभी से रति चाहता, पर भाभी को यह स्वीकार नहीं है। उसकी (भाभी) इसी मनोदशा का वर्णन सखी सखी से करती है।

अर्थ—वह कुलवधू गृह-कलह के डर से देवर के मन की खोट घर में किसी

१. सभी टीकाकारों ने चटकाहट का अर्थ गुलाब की कलियों का चटकना किया है, पर इसका अर्थ चटका+आहट अर्थात् चिड़ियों का चहचहाना अधिक युक्तिसंगत है।

से नहीं कहती है और बिल्ली के समीप पिंजरे में स्थित तोते की भांति सूखती जाती है।

अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा सुन्दर चित्रण है।

अलंकार—पूर्णोपमा, अनुप्रास।

औरै भांति भए ऽब ए, चौसरु चंदनु, चंदु।
पति बिनु अति पारतु बिपति, मारतु मारुतु मंदु ॥८६॥

शब्दार्थ—चौसर=मोतियों का चौलड़ा हार। पारतु=देता है।

प्रसंग—विरहिणी नायिका सखी द्वारा किए गए शीतोपचारों पर कहती है।

अर्थ—अब तो ये मोतियों के हार, चन्दन और चन्द्र कुछ और ही (विरुद्धाचरण युक्त) हो गए हैं। और प्रियतम के अभाव में यह मन्द पवन तो भारी कष्ट दे-देकर प्राण लिए लेता है।

विशेष—१. उद्दीपन विभाव का सुन्दर चित्रण।
२. वस्तुओं में नहीं सुख मन में रहता है।

यदि मन प्रसन्न है तो नर्क भी भयावह न लगेगा, और मन के क्षुब्ध होने पर स्वर्ग भी अप्रिय लगेगा। संयोग के सुखद क्षणों में सभी कुछ (चन्द्र, शीतोपचारादि) अच्छा लगता है परन्तु वियोग में वे ही वस्तुएं सुख के स्थान पर दुख देने वाली हो जाती हैं।

अलंकार—अनुप्रास, विषम।

कुच सौन्दर्य

चलन न पावतु निगम-मगु, जगु उपज्यौ अति त्रासु।
कुच-उतंगगिरिवर गह्यौ, मैना मैनु मवासु ॥८७॥

शब्दार्थ—मैना=राजपूताने की एक डाका मारने वाली जाति। मवासु=दृढ़ निवास, घेरा।

प्रसंग—नायक द्वारा नायिका के उत्तुंग कुचों का वर्णन।

अर्थ—कुच रूपी ऊंचे पर्वत पर मदन रूपी मैना (लुटेरे) ने अपना सुदृढ़ घेरा डाला है, अतः संसार धर्मपथ पर नहीं चलने पाता; बड़ा भय उत्पन्न हो गया है। (उन्नत कुचों के कारण अच्छों-अच्छों के ईमान बिगड़ जाते हैं।)

अलंकार—सांग रूपक।

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सकुचि समाहि।
गली, अली की ओट कैं, चली भली बिधि चाहि ॥८८॥

शब्दार्थ—कर सिर ढकि=हाथ से सिर ढककर। सकुचि=संकोच करके। समाहि=सामना करके, सामने होकर।

प्रसंग—नायक पर मुग्ध नायिका की आंगिक चेष्टाओं का सरस वर्णन

नायक द्वारा ही किया गया है।

अर्थ—वह सुन्दरी मेरे सम्मुख आकर संकोच दिखाकर (कृत्रिम अभिनय करके), हाथ से मस्तक ढंककर तथा इसी छल से अपनी त्रिबली दिखाकर सखी की आंख बचाती हुई और मुझे आंख भरकर देखती हुई गली में चली गई। (इस वर्णन में नायक की बेचैनी दृष्टव्य है)

अलंकार—स्वभावोक्ति।

हावों की छटा भी मोहक है।

देखत बुरैं कंपूर ज्यौं, उपै जाइ जिन, लाल।
छिन छिन जाति परी खरी, छीन छबीली बाल ॥८९॥

शब्दार्थ—बुरैं=धीरे-धीरे समाप्त होना। उपै जाइ=उजड़ जाना।

प्रसंग—नायिका विरह में अत्यन्त क्षीण हो गई है। सखी नायक से इसी बात का वर्णन करती है।

अर्थ—हे लाल, वह छबीली बाला क्षण-प्रतिक्षण अत्यन्त क्षीण होती जा रही है। (डर है कि) ऐसा न हो कि वह देखते ही कपूर की भांति सर्वथा लुप्त हो जाए।

तुलनात्मक—आग से भी है ज़ियादा बेकरारी इन दिनों।
शक्ल पहचानी नहीं जाती, हमारी इन दिनों ॥
——हिजाब बेगम

ऊहात्मक वर्णन

हंसि उतारि हिय तैं दई तुम जु तिहि दिना लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं, वहै चुहुटिनी-माल ॥९०॥

प्रसंग—सखी वचन नायक से।

अर्थ—हे लाल ! आपने उस दिन अपने वक्षस्थल से उतारकर जो घुंघची की माला उसे दी थी। वह माला उसके प्राणों को कपूर की भांति रक्षित किए रहती है।

विशेष—घुंघची के सम्पर्क से कपूर उड़ता नहीं है।

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा, विपति बिदारन हार ॥९१॥

प्रसंग—सन्तोषी भक्त का स्वगत वचन।

अर्थ—कोई हज़ार, लाख और करोड़ रुपयों तक का संग्रह कर ले। मेरी सम्पत्ति तो सदैव विपत्ति नष्ट करने वाले यदुपति श्री कृष्ण हैं।

दूज-सुधा दीधिति कला, वह लखि दीठि लगाइ।
मनौ अकास अगस्तिया, एकै कली लखाइ॥९२॥

शब्दार्थ—सुधा दीधिति=चन्द्रमा। अगस्तिया=अगस्ति वृक्ष—शरद् ऋतु में इसमें कलियां आती हैं।

प्रसंग—रति के लिए वचनबद्ध नायिका को सखी निश्चित समय और स्थल का स्मरण दिला रही है।

अर्थ—सुन्दरी! द्वितीया की चन्द्रकला को देख, वह ऐसी शोभित हो रही है जैसे कि आकाश रूपी अगस्तिया वृक्ष में एक ही कली हो।

(द्वितीया के चन्द्रास्त के समय अगस्त वृक्ष के नीचे नायक-नायिका ने मिलन निश्चित किया है।)

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गंवारि सुवार॥९३॥

शब्दार्थ—मदराने [illegible] अवस्था वाले। ऐपन=चावल और हल्दी का एक लेप। हूठ्यौ=कटि पर मुट्ठी बांधकर रखे गए दोनों हाथों द्वारा ग्रामीण युवतियों का इठलाना।

हूठ्यौ देती हुई स्त्री को देखकर नायक का स्वगत वचन।

अर्थ—हाय रे! वह मदराए हुए शरीर वाली गौराङ्गी, जिसके ललाट पर ऐपन का आड़ा तिलक लगा हुआ है। कैसी मारक इठलाहट के साथ हूठा देकर आंखों (कटीली) से अचूक प्रहार करती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

आंगिक चेष्टाओं का सुन्दर चित्रण।

तंत्री-नाद कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग॥९४॥

शब्दार्थ—तंत्रीनाद=तन्त्र वाद्यों (सितार सारंगी) आदि का स्वर। कवित्त-रस=काव्यानन्द। सरस राग=रसपूर्ण गायन। रतिरंग=स्त्री भोग का आनन्द। सब अंग=सर्वाङ्ग से।

प्रसंग—कवि की सामान्य उक्ति।

अर्थ—जो व्यक्ति सारंगी, सितार आदि तन्त्र वाद्यों में, काव्यानन्द में, रसपूर्ण गायन में तथा काम क्रीड़ा के आनन्द में लीन न हुए (इन से अपरिचित ही रह गए) वे नष्ट हो गए (उनका जीवन डूब गया) और जो सर्वाङ्ग से (पूर्णतया) इनमें डूब गए (लीन हो गए) वे वस्तुतः सफल पार हो गए (उनका जीवन सार्थक हो गया)।

अलंकार—विरोधाभास।

केश वर्णन

सहज सचिक्कन, स्याम-रुचि, सुचि, सुगंध, सुकुमार।
गनतु न मनु पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार ।।६५।।

शब्दार्थ—सहज सचिक्कन=स्वाभाविक रूप से चिकने। बिथुरे=छिटके हुए। सुथरे=सुन्दर।

प्रसंग—नायिका के केशों पर अनुरक्त नायक स्वगत कहता है।

अर्थ—उसके स्वभावत: चिकने, काले, स्वच्छ, सुगन्धित, कोमल और बिखरे हुए सुन्दर बालों को देखकर मेरा मन (ऐसा मन्त्रमग्ध हो गया है कि) सत्यपथ अथवा कुपथ कुछ नहीं गिनता।

सुदुति दुराई दुरति नहिं प्रगट करति रति-रूप।
छुटैं पीक, औरै उठी, लाली ओठ अनूप ।।६६।।

प्रसंग—रतिलक्षिता नायिका के प्रति सखी वाक्य।

अर्थ—गहरी कान्ति छिपाई नहीं छिपती वरन् वह रतिक्रिया को प्रगट कर ही देती है। देख तेरी पान की पीक का रंग ओठों से पृथक हो जाने पर उनमें (प्रिय-अधर पान से उत्पन्न) और भी अनुपम लाली फूट उठी है।

वेई गड़ि गाड़ैं परीं, उपट्यौ हारु हियैं न।
आन्यौ मोरि मतंगु मनु, मारि गुरेरनु मैन ।।६७।।

शब्दार्थ—गाड़ैं=गड्ढा। उपट्यौ=किसी कोमल वस्तु पर कठोर वस्तु के दबाव से जो चिह्न बन जाता है उसे उपटना उछलना आदि कहते हैं। गूरेरनु=छोटी-छोटी गोलियां।

प्रसंग—रति लक्षित नायक के प्रति खण्डिता नायिका का वचन।

अर्थ—मदन (कामदेव) ही आप जैसे मदोन्मत्त हाथी को गुलेलें मार-मारकर मोड़ लाया है। (आप संकुचित न हों) आपके वक्ष पर ये चिह्न किसी सुन्दरी के हार के नहीं हैं, अपितु वे गुलेलें ही तीव्रता से उछलकर गड्ढे जैसी हो गयी हैं।

कैसी तीखी व्यंजना है!

अलंकार—रूपक से पुष्ट शुद्धापन्हुति।

नैंक न झुरसी बिरह-झर, नेह लता कुम्हिलाति।
नित-नित होति हरी हरी, खरी झालरति जाति ।।६८।।

शब्दार्थ—झर=लपट-आग। झालरति=नए-नए पत्तों से लहराती हुई लता।

प्रसंग—नायिका का नायक के प्रति विरहावस्था में भी प्रेम बढ़ा हुआ है, इसी बात का वर्णन सखी सखी से करती है।

अर्थ—विरह की ज्वाला से झुलसी हुई उसकी स्नेह-लता रंचमात्र भी

नहीं मुरझाती है; प्रत्युत नित्यप्रति हरा-भरा होकर लहराती है।

अलंकार—१. रूपक गर्भित विशेषोक्ति (प्रथम पंक्ति में)।

२. रूपक गर्भित विभावना (द्वितीय पंक्ति में)।

हेरि हिंडौरैं-गगन तैं, परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं, करी खरी रस लूटि।।९९।।

शब्दार्थ—हिंडौरैं-गगन=हिंडोला रूपी आकाश। परी-सी=अप्सरा-सी। धरी धाइ=दौड़कर पकड़ ली। खरी=खूब डटकर।

प्रसंग—नवोढा नायिका झूले में झूल रही थी कि सहसा नायक को देखकर वह लज्जा के कारण कूद पड़ी पर नायक ने उसे बीच में ही लपक लिया। सखी सखी से—

अर्थ—प्रिय को देखते ही शीघ्रता के कारण वह (सुन्दरी) हिंडोले रूपी आकाश से अप्सरा की भांति कूद पड़ी। (प्रिय ने यह रस का अवसर हाथ से न जाने दिया) प्रिय ने सहसा उसे बीच में ही लपक लिया और डटकर रस लूटा।

अलंकार—१. रूपक, यमक, उपमा, अनुप्रास।

२. श्रुतिमधुर शब्दावली, चित्रात्मक शैली।

दन्त सौन्दर्य

नैंक हंसौं हीं बानि तजि, लख्यौ परतु मुंहुं नीठि।
चौका-चमकनि चौंध मैं, परति चौंध सी डीठि।।१००।।

प्रसंग—सखी द्वारा नायिका का दन्त-सौन्दर्य वर्णन।

अर्थ—अरी सुन्दरी! थोड़ी हंसने की आदत छोड़ दे, क्योंकि इससे तेरे अग्रिम दन्त-चतुष्क की भारी चमक उठती है जिसके कारण तुम्हारा लावण्य-मय मुख भी बड़ी कठिनता से देखा जाता है।

अलंकार—काव्यलिङ्ग, वस्तूत्प्रेक्षा।

प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ।।१०१।।

शब्दार्थ—द्विजराज=चन्द्रमा, ब्राह्मण। द्विजराज कुल=(१) चन्द्रवंश-यदुवंश। (२) ब्राह्मण वंश। सुबस=स्वेच्छा से। केसव=श्रीकृष्ण। केसवराइ=कवि (बिहारी) के पिता।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने कौशल से आत्मपरिचय दिया है।

अर्थ—हे केशव (श्रीकृष्ण) रूपी केशवराय (कवि के पिता) आप मेरे समस्त (दैविक, दैहिक एवं भौतिक) कष्टों को हर लीजिए। आप स्वेच्छया ही ब्रज में बसे हैं तथा आपका जन्म भी द्विजराज कुल (चन्द्रवंश-यदुवंश रूपी

ब्राह्मण वंश) में हुआ है।

विशेष—उक्त दोहे से कविराज विहारी के कुल, जन्मस्थान एवं आर्थिक स्थिति की सूचनाएं मिलती हैं। द्विजराज कुल शब्द से कुलगत श्रेष्ठता तथा सुब्रस शब्द से यह स्पष्ट है कि कवि ब्रज के न थे अपितु उनके पिता स्वेच्छा से ही आ बसे थे। इसी सुबस शब्द से यह भी प्रकट होता है कि आर्थिक परवशता न थी (अर्थात् वे सम्पन्न थे) और रुचि के कारण ही ब्रज में रहने लगे थे।

इसी दोहे के आधार पर केशवदास को बिहारी का पिता मान लिया जाता है। परन्तु पिता की अपेक्षा केशवदास बिहारी के गुरु ही अधिक सम्भव लगते हैं।

अलंकार—श्लेष, रूपक, यमक।

केसरि कैसरि क्यौं सकै, चंपकु कितकु अनूपु।
गात-रूपु लखि जातु दुरि, जात रूप कौ रूपु ॥१०२॥

शब्दार्थ—सरि=समता। कितकु=कितना। जातरूप=सोना।

प्रसंग—उस गौराङ्गी के रूप की समता केसर कैसे कर सकती है और चम्पक का अनुपमत्व भी उसके सामने कितना ठहर सकेगा? उसका रूप देखकर तो स्वर्ण जो कि अद्भुत रूपवान (स्वभाव से ही होता है) होता है छिप जाता है, लज्जित हो जाता है।

अलंकार—यमक, प्रतीप (उपमान की तुच्छता का द्योतन)।

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धस्यौ मनौ हिय-धर समरु, ड्यौढ़ी लसत निसान ॥१०३॥

शब्दार्थ—मकराकृति=मछली के आकार का। कुंडल=कर्ण-भूषण। धस्यौ=प्रवेश किया। हिय-धरु=हृदय रूपी प्रदेश में। समरु-स्मर=कामदेव। ड्यौढ़ी=राजमहल के अग्रद्वार के दोनों ओर बने हुए दो ऊंचे चबूतरे। निशान=ध्वज, चिह्न।

प्रसंग—नायक (गोपाल) नायिका के रूप को देखकर कंपसत्त्व से भर उठा है। सखी यही बात सखी से कह रही है।

अर्थ—(सलौने) गोपाल के कानों में दोलायमान मीनाकृति कुंडल ऐसे शोभित हो रहे हैं जैसे कि हृदय-रूपी भूमण्डल को कामदेव (रूपी-नृपति) ने जीत लिया है और उसका विजय-सूचक ध्वज ड्यौढ़ी (प्रमुख द्वार के अग्रभाग) पर फहरा रहा है।

विशेष—ध्वज चंचल होता है अतः इससे कुंडलों में कंपसत्त्व व्यंजित होता है।

पाठ-भेद—धस्यौ के स्थान पर धर्यौ भी है। धस्यौ के आधार पर जीतना अर्थ लगता है और यह

अलंकार—उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा। रूपक कंपसत्त्व का सुन्दर चित्रण।

भृकुटि वर्णन

खौरि-पनिच भृकुटि-धनुषु, बधिकु समरु तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग तिलक-सर सुरक-भाल, भरि तानि ॥१०४॥

शब्दार्थ—खौर=आड़ा तिलक। पनिच-प्रत्यञ्चा=डोरी। कानि=रुकावट। सुरक=नाक से भाल की ओर पतला और नुकीला होता हुआ तिलक का अग्रभाग। भाल=बाण का फल—अग्रभाग [पूरे का अर्थ होगा—सुरक रूपी भाल वाला, (नोंक वाला) तिलक रूपी बाण]। भरि तानि=पूरी तरह से खींचकर।

प्रसंग—तने हुए तेवरों वाली नायिका पर रीझा हुआ नायक स्वगत कहता है।

अर्थ—आड़े तिलक रूपी प्रत्यञ्चा-युक्त भृकुटि रूपी धनुष को भरपूर तानकर काम-वधिक बड़ी निष्ठुरता से, सुरक रूपी अग्रभाग वाले तिलक बाण से युवकजन-रूपी मृगों का वध कर रहा है।

अलंकार—साङ्गरूपक।

नीकौ लसतु लिलार पर, टीकौ जरितु जराइ।
छबिहिं बढ़ावतु रवि मनौ, ससि मंडल मैं आइ ॥१०५॥

शब्दार्थ—जरितु जराइ=चमकता हुआ जड़ाउ।

प्रसंग—नायिका के टीका पर मुग्ध नायक।

अर्थ—उसके सलौने ललाट (भाल) पर चमचमाता हुआ जड़ाउ टीका (बिंदिया) ऐसा लगता है जैसे कि चन्द्रमण्डल में आकर (बाल) रवि छवि को और अधिक बढ़ा रहा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

विशेष—चन्द्र-सूर्य का कवि द्वारा आश्चर्यकारी संयोग।

लसतु सेतसारी-ढप्यौ, तरल तर्यौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि-सलिल, रवि-प्रतिबिंबु बिहान ॥१०६॥

प्रसंग—सखी नायक को नायिका का उसके प्रति अनुराग बड़ी चातरी से व्यंजित कर रही है।

अर्थ—उस सुन्दरी की श्वेत साड़ी से आवृत कान का चंचल ताटंक ऐसा शोभित हो रहा है जैसे कि प्रभातकाल में गंगा के निर्मल जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

तुलनात्मक— झूमके पहनो न साहब झूमके।
झूमके ले लेंगे बोसा झूमके ॥

हम हारीं कै कै हा हा, पाइनु पार्‌यौ प्यौरु।
लेहु कहा अजहूं किए, तेह तरेर्‌यौ त्यौरु ॥१०७॥

शब्दार्थ—हा हा=करुण निवेदन-सूचक शब्द। प्यौरु=प्रियतम। तेह-तरेर्‌यौ=क्रोध से तने हुए। त्यौरु=तेवर।

प्रसंग—सखी नायिका के मानापनोदन हेतु कहती है।

अर्थ—अरी मानिनी! (तुझे प्रसन्न करने के लिए) हम सभी सखियां हा हा खाकर थक गयीं और तेरे प्रिय को भी तेरे चरणों पर लिटा दिया। इतने पर भी तेरे तेवर क्रोध से तने हुए हैं। (समझ में नहीं आता) तुम अब ऐसा करके क्या लाभ उठा लोगी।

सतर भौंह सूखे वचन, करति कठिनु मनु नीठि।
कहा करौं ह्वै आति, हरि हेरि हंसौंहीं डीठि ॥१०८॥

शब्दार्थ—सतर=तनी हुई। नीठि=कठिनता से। डीठि=दृष्टि।

प्रसंग—सखी ने नायिका को शीघ्र एवं सरलता से अनुकूल होने के लिए रोका है। परन्तु नायिका विवश है, वह अपने प्रिय को देखकर प्रेम छिपा नहीं सकती और मुस्करा उठती है। नायिका का यही भाव यहां व्यंजित है।

अर्थ—हे सखी! मैं बड़े यत्न से अपनी भृकुटियों को तना हुआ (क्रोध-युक्त) वचनों को रूक्ष तथा मन को काठिन्ययुक्त करती हूं पर क्या करूं? हरि के सामने आते ही मेरी दृष्टि (प्रेमातिरेक से) हास्योन्मुख हो ही जाती है।

वाहि लखैं लोइन लगैं, कौन जुबति की जोति।
जाकैं तन की छांह-ढिग, जोन्ह छांह सी होति ॥१०९॥

शब्दार्थ—जोन्ह=चांदनी।

प्रसंग—सखी नायक से नायिका के देदीप्यमान अंगलावण्य की चर्चा करती है।

अर्थ—उस सुन्दरी को देख लेने पर नेत्रों को किसी और का रूप भा ही नहीं सकता। उसके शरीर की छाया के समीप चन्द्रिका भी छाया जैसी (कुरूप) लगती है। (उसके शरीर की चमक से तुलना करने पर तो बेचारी चांदनी की न जाने क्या दशा होगी।)

अलंकार—धर्मलुप्ता उपमा।

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
विरह ज्वाला जरिबो लखैं, मरिबौ भई असीस ॥११०॥

प्रसंग—सखी नायक से नायिका की असह्य विरह दशा का निवेदन करती है।

अर्थ—हे प्राणों के रक्षक हरि! उसकी दशा को मैं कैसे कहूं। उसकी विरह-ज्वाला को देखकर तो ऐसा लगता है कि (ऐसे जीवन से तो) ऐसी

अवस्था में तो मृत्यु इसे आशीर्वाद सदृश फलेगी। (अर्थात् मौत से इसके प्राण अधिक सुखी हो सकेंगे)

अलंकार—लेश—(बुराई को भलाई समझना मृत्यु को आशीर्वाद मानना)

जेती संपत्ति कृपन कैं, तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यौं ज्यौं उरज, त्यौं त्यौं होत कठोर ॥१११॥

शब्दार्थ—सूमति=सूमता, कंजूसी। जोर=अधिक।

प्रसंग—कवि की उक्ति।

अर्थ—कृपण के पास जितनी अधिक सम्पत्ति बढ़ती जाती है उतनी ही उसकी कृपणता भी बढ़ जाती है। जैसे कुच ज्यौं-ज्यौं बढ़ते हैं उनकी कठोरता में भी उतनी ही वृद्धि होती है।

अलंकार—दृष्टान्त।

ज्यौं ज्यौं जोबन-जेठ दिन कुच मिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि-छपा, छीन परति नित जाति ॥११२॥

शब्दार्थ—मिति=सीमा। छपा=रात्रि।

प्रसंग—नायक नायिका के यौवनागमन पर रीझकर स्वगत कहता है।

अर्थ—ज्यौं-ज्यौं (उसके) यौवन-रूपी जेठ के महीने के कुच रूपी दिन की वृद्धि होती है त्यौं-त्यौं प्रति क्षण कटि रूपी रात्रि क्षीण होती जाती है।

अलंकार—रूपक।

तेह तरेरौ त्यौरु करि कत करियत दृग लोल।
लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-झलक कपोल ॥११३॥

शब्दार्थ—तेह=क्रोध। तरेरौ=तना हुआ। त्यौरु=तेवर। श्रुतिमनि=कान में पहनने के मणि।

प्रसंग—नायक ने परकीया से रति की है जिसके चिह्न पाकर नायिका क्रुद्ध है। सखी बड़ी चातुरी से नायिका का क्रोध दूर करने का यत्न करती है

अर्थ—हे सखी! क्रोधयुक्त तेवर करके आंखें क्यों चंचल करती हो। नायक के कपोल पर लक्षित लाली पीक की नहीं है अपितु वह कान के मणि की झलक मात्र है।

अलंकार—भ्रान्त्यपन्हुति।

नैंक न जानी परति यौं परयौ बिरह तनु छामु।
उठति दियैं लौं नांदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु ॥११४॥

शब्दार्थ—छामु=क्षीण, दुर्बल। नांदि=दिये की बुझने के पूर्व की भभक।

प्रसंग—सखी द्वारा नायक से नायिका का विरह निवेदन।

अर्थ—उसका शरीर विरह की तीव्रता से इतना क्षीण हो गया है कि किंचिन्मात्र भी देखने में नहीं आता। केवल, हे हरि! आपका नाम लेने से

वह दु खिनी दीये की अन्तिम भभक-सी चमक उठती है।

अलंकार—पूर्णोपमा।

तुलनात्मक—इंतहाए लांगरी से जब नज़र आए न वो।
हंस के यूं कहने लगे, बिस्तर को झाड़ा चाहिए।।

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न ।।११५।।

शब्दार्थ—चाली=चल दी। चटकाली=चिड़ियों की टोली।

प्रसंग—निराश हुई नायिका सखी से कहती है।

अर्थ—हे सखी! आकाश में प्रभात की लालिमा प्रकट होने लगी है, रात्रि गमनोन्मुख है और चिड़ियों की टोलियां भी चहकने लगी हैं—अब क्या प्रिय आएंगे? प्रतीत होता है उन्होंने कहीं अन्यत्र रति का आनन्द लिया है, अत: वे वन-माली अब तक न आए।

अलंकार—अनुमान, अनुप्रास।

सोवत सपनैं स्यामधनु, मिलि हिलि हरत वियोगु।
तब हीं टरि कित हूं गई, नींदौ नींदनु जोगु ।।११६।।

प्रसंग—नायिका का नायक से स्वप्न में मिलन भी निर्बाध नहीं है। यह नींद निन्द्य है। नायिका इसी भाव को व्यक्त कर रही है।

अर्थ—हे सखी! मेरे प्रिय घनश्याम मेरे सपनों में आकर आलिंगनादि द्वारा मेरा वियोग हर ही रहे थे कि दुष्ट निद्रा भी उसी समय जाने कहां चली गई, अत: वह भी निन्द्य है।

(निद्रा विनियोगिनी को वैसे आती ही कहां है पर जैसे-तैसे थोड़ी-सी आई भी और उसके कारण प्रिय-मिलन सम्भव भी हुआ तो तत्काल वह भी भाग गई। वास्तव में वियोगी का कोई साथी नहीं होता।)

अलंकार—विपादन

सम्पति केस, सुदेस नर, नवत, दुहुनि इक बानि।
विभव सतर कुच, नीच नर, नरम विभव की हानि ।।११७।।

शब्दार्थ—सम्पति=(यह शब्द श्लिष्ट है) केशों के पक्ष में—वृद्ध। (२) नर के पक्ष में—धन। सुदेस=उच्च स्थान, उच्च पद। नवत= (१) नीचे की ओर फैलते हैं। (२) नम्र होते हैं।

प्रसग—कवि की उक्ति (भङ्ग्यन्तर से कुच-प्रशंसा)

अर्थ—केश तथा श्रेष्ठ पद पर आसीन व्यक्ति उन्नति के समय नम्रीभूत होते हैं, यह दोनों की एक-सी प्रकृति होती है। परन्तु कुच और नीच पुरुष वैभव (उन्नति) के समय कठोर हो जाते हैं और वैभव की समाप्ति पर नम्र

(शिथिल, दैन्ययुक्त) होते हैं।

अलंकार—१. अर्थावृत्ति दीपक।
(एक ही अर्थ वाले भिन्न शब्दों की आवृत्ति)
(नमत, नरम)
२. पुनरुक्ति दोष—नर और विभव में।

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन पखानु।
नतरुक कत इन बिय लगत, उपजतु बिरह कृसानु ॥११८॥

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका सखी से।

अर्थ—हे सखी ! सभी कवियों ने नेत्रों को कमल सदृश कहा है, मेरे विचार से तो ये साक्षात् पाषाण हैं। अन्यथा दूसरे नेत्रों से सम्पृक्त होते ही इनमें से विरहाग्नि क्यों उत्पन्न होती है ?

अलंकार—हेत्वपन्हृति।

हरि-हरि ! बरि-बरि उठति है करि-करि थकी उपाइ।
वाकौ जुरु बलि बैद, जौ तो रस जाइ तु जाइ ॥११९॥

शब्दार्थ—बैद=चिकित्सक एवं विद्वान्। रस (श्लिष्ट है) प्रिय पक्ष में—मिलन रस, वैद्य पक्ष में—विभिन्न औषधि-रस।

प्रसंग—सखी द्वारा नायक से नायिका का विरह निवेदन।

अर्थ—हाय रे ! (वह तीव्र वेदना के कारण) क्षण प्रतिक्षण जल-जल उठती है। मेरे तो सभी उपाय अकिंचित्कर हो गए। (मेरा भी उसकी दशा को देखकर धैर्य टूट रहा है) हे कुशल चिकित्सक ! मैं आपकी बलिहारी जाती हूं (आप उस पर कृपा करें) यदि उसका विरह-ज्वर जाएगा तो केवल आपकी रसायन से ही।

अलंकार—श्लेष, वीप्सा, अनुमान।

यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी बिषम जुर जाइयैं आइ सुदरसनु देहु ॥१२०॥

शब्दार्थ—बिनसतु=नष्टप्राय। नगु=रत्न, स्त्री-रत्न। सुदरसनु=सुदर्शन चूर्ण, शुभ दर्शन।

प्रसंग—विरहिणी नायिका की दशा सखी पत्र द्वारा नायक को सूचित करती है।

अर्थ—इस नष्टप्राय सुन्दरी-रत्न की रक्षा करके संसार में महान् यश के भागी बनो। यह विरह के विषम ज्वर से दग्ध हो रही है। तुम (त्वरित) आकर इसे सुदर्शन (औषधि) दो।

अलंकार—श्लेष।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं-त्यौं उज्जलु होइ ॥१२१॥

शब्दार्थ—स्याम रंग=(१) श्री कृष्ण के प्रेम में। (२) काले रंग में। उज्जलु=निर्मल, (२) श्वेत।

प्रसंग—किसी भक्त का कथन।

अर्थ—इस रंगारंग हृदय की चाल (लीला) बड़ी विचित्र है—किसी की समझ में नहीं आती। यह चित्त जितना अधिक श्याम रंग में डूबता है उतना ही उज्ज्वल होता है।

अलंकार—विषम।

बिय सौतिनु देखते दई, अपने हिय तैं लाल।
फिरति सबनु मैं डहडही, उहैं मरगजी माल ॥१२२॥

शब्दार्थ—बिय=दूसरी, अन्य। डहडही=प्रसन्न। मरगजी=मसली हुई।

प्रसंग—हे लाल ! आपने अपने सौतों के बीच, अपने वक्ष से उतार कर जो (वक्ष-घर्षण से) मसली हुई माला उसे दी उसकी प्राप्ति के गर्व से वह सब के मध्य प्रसन्न होकर घूमती है।

छला छबीले लाल कौ, नवल नेह लहि नारि।
चूंबति, चाहति, लाइ उर, पहिरति, धरति उतारि ॥१२३॥

प्रसंग—सखियां पूर्वानुरागिनी नायिका की प्रेम-विह्वलता की आपस में चर्चा करती हैं।

अर्थ—नई-नई प्रीति में छबीले प्रिय का छल्ला प्राप्त कर यह सुन्दरी प्रेमातिरेक से उसे चूमती है, निरखती है, वक्ष से चिपटाकर पहन लेती है और फिर (किसी पर उसकी नई-नई प्रीत प्रकट न हो जाए अतः) उसे उतारकर रख लेती है।

विशेष—प्रीति-विवशा नायिका की आंगिक चेष्टाओं का अत्यन्त सरस, औचित्यपूर्ण एवं हृदयहारी चित्रण है।

२. शब्द-योजना चुटीली एवं पूर्णतया व्यवस्थित है। भाषाधिकार के कारण ही कवि एक दोहे जैसे छोटे छन्द में इतनी क्रियाओं का सफल चित्रण कर सका।

अलकार—स्वभावोक्ति।

नित संसौ हंसौ बचतु, मनौ सु इहिं अनुमानु।
बिरह-अगिनि-लपटनु सकतु झपटि न मीचु-सचानु ॥१२४॥

शब्दार्थ—संसौ=प्राण। हंसौ=हंस पक्षी। मीचु=मृत्यु। संचान=बाज पक्षी।

प्रसंग—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदित करती है।

अर्थ—(असह्य विरह वेदना के कारण उसकी मृत्यु कभी भी हो सकती है किन्तु) फिर भी प्रतिदिन उसकी श्वासों में अवरुद्ध प्राण-हंस केवल इसलिए बच जाता है कि मृत्यु रूपी बाज पक्षी विरहाग्नि की भयङ्कर लपटों के कारण उस पर झपट नहीं पाता।

अलंकार—रूपक, हेतूत्प्रेक्षा।

तुलनात्मक—चन्दन कीच चढ़ाय हूं, बीच परे नहिं रांच।
मीच नगीचं न आ सकै, लहि बिरहानल आंच ।।३६५।।
(शृंगार सतसई)

थाकी जतन अनेक करि, नैंक न छाड़ति गैल।
करी खरी दुबरी सुलगि, तेरी चाह चुरैल ।।१२५।।

प्रसंग—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदित करती है।

अर्थ—तुम्हारी चाह रूपी चुड़ैल ने हावी होकर उसे अत्यधिक दुर्बल कर दिया है। (मैं) अनेक प्रयत्न करके थक गई किन्तु वह दुष्टा उसका पीछा नहीं छोड़ती।

अलंकार—रूपक।

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे घर जांहि।
गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नांहि ।।१२६।।

शब्दार्थ—गोरसु—(श्लिष्ट है) १. बतरस (बातचीत का आनन्द), २. इन्द्रिय रस।

प्रसंग—सखियों के साथ नायिका गोरस बेचने गई थी कि मार्ग में नायक ने 'गोरस' के नाम पर उसे छेड़ा है। नायिका बड़ी चातुरी से उसी का उत्तर देती है।

अर्थ—(१) लज्जा अनुभव करो, व्यर्थ में ही हमें क्यों छेड़ रहे हो, घर जाने दो। वास्तव में तुम गोरस (वार्ता रस) चाहते हो, गोरस (दूध दही) नहीं।

(२) तुम्हें दूध दही आदि गोरस नहीं अपितु इन्द्रिय रस (गोरस) चाहिए है। पर यह क्या, सबके सम्मुख मांग रहे हो, लज्जा करो। उसके लिए तो गुप्त रीति से मिलना ही उचित होगा।

अलंकार—यमक, पर्यायोक्ति, श्लेष, पुनरुक्ति।

घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज ।।१२७।।

शब्दार्थ—कलित=मुक्त एवं कल-कल करते हुए।

प्रसंग—स्वयं दूतिका नायिका अत्यन्त निपुणता से नायक पर अपना भाव पूर्णतया व्यक्त करती है।

अर्थ—यमुना के तट पर तमाल वृक्ष से सम्पृक्त एवं भ्रमरों की मनोहर

टोलियों से युक्त मालती-कुंज में घड़ीभर विश्राम करके आप इस कड़ी धूप का निवारण कीजिए।

विशेष—सम्पूर्ण दोहा गूढ व्यञ्जना से परिपूर्ण है।

१. 'यमुना तीर' द्वारा स्थान की सूचना दी गई है।

२. 'कलित ललित अलि-पुंज' के द्वारा निर्जन स्थान जो कि रति के लिए उपयुक्त होता है, का संकेत है; भ्रमर वहीं गुंजार करते हैं जहां जनहीनता हो।

३. 'तमाल तरु मिलित मालती कुंज' द्वारा भी स्त्री-पुरुष के मिलन का मधुर संकेत है।

४. 'घाम घरीक निवारिए' द्वारा 'थोड़ी ही देर में आती हूं' यह भाव व्यंजित किया गया है।

अलंकार—गूढ़ोत्तर, पर्यायोक्ति।

उन हरकी हंसिकै इतै, इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिलैं मन मिलि गए, दोउ मिलिवत गाइ ॥१२८॥

प्रसंग—गाएं चराने जाते हुए नायक की गायों में नायिका ने भी अपनी गाएं मिला दीं और दोनों के नेत्र चार हुए। यही भाव सखी सखी से कहती है।

अर्थ—नायक ने (ऊपरी मन से) नायिका को गाय मिलाने से रोका परन्तु उसने मुस्कराहट के साथ मिला दीं और इस प्रकार गाय मिलाते-मिलाते उन दोनों के परस्पर नेत्र भी मिल गए।

अलंकार—चपलातिशयोक्ति—नैन मिलते ही मन भी मिल गए।

विपरीत रति

परयौ जोरु, बिपरीत रति रूपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, मौन गह्यौ मंजीर ॥१२९॥

शब्दार्थ—**परयौ**=पड़ गया, नीचे आ गया। जोरु=जोड़, प्रतिद्वन्द्वी। परयौ जोरु=इसका **अर्थ**—बड़ा ज़ोर पड़ रहा है; शक्ति लग रही, यह भी हो सकता है। रूपी=डट गई। विपरीत रति=जिस रति-क्रिया में पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर होती है, वह विपरीत रति कहलाती है। सुरत-रन-धीर=रति-संग्राम में धैर्य के साथ डटने वाली। किंकनी=कटि सूत्र की छोटी-छोटी घुंघरु। मंजीर=पैरों का भूषण (पुंल्लिग)।

प्रसंग—रंगमहल की सखियां किंकनी बजने से प्रौढ़ा नायिका का विपरीत रति का परस्पर अनुमान लगाती हैं।

अर्थ—नायिका का जोड़ (नायक) नीचे आ गया है और विपरीत रति में रति-रण-धीरा नायिका बड़ी स्थिरता से डट रही है। अब कटि सूत्र की

घंटियां कोलाहल (नायिका के काटि संचालन के कारण) कर रही हैं और पैरों के बिछुए शान्त हो गए हैं (जो कि नायिका की अधोवर्तिनी दशा में ध्वनि करते थे)।

अलंकार—रूपक से पुष्ट अनुमान।

बिनती रति बिपरीत की, करी परसि पिय पाइ।
हंसि अनबोलैं ही दियौ, ऊतरु, दियौ बताइ ॥१३०॥

शब्दार्थ—ऊतरु=उत्तर। दियौ बताइ=दिया दिखाकर अर्थात् दिया बुझाने का संकेत करके।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

अर्थ—प्रिय ने प्रिया के चरण छूकर उससे विपरीत रति के लिए प्रार्थना की। प्रिया ने हंसकर (सलज्ज भाव से) दीपक की ओर संकेत करके बिना बोले ही उत्तर दे दिया।

अलंकार—सूक्ष्म।

कैसैं छोटे नरनु तैं, सरतु बड़नु के काम।
मढ़यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे कैं चाम ॥१३१॥

प्रसंग—कवि की उक्ति।

अर्थ—छोटे (लघु सामर्थ्य वाले) व्यक्तियों से बड़े व्यक्तियों के (जिनमें भारी शक्ति और योग्यता अपेक्षित होती है) काम कैसे चल सकते हैं? चूहे के चमड़े से कहीं नगाड़े का (विशाल शरीर) मढ़ा जाना संभव है?

अलंकार—काकु, अर्थान्तरन्यास।

सकत न तुव ताते बचन, मो रसु कौ रसु, खोइ।
खिन खिन औंटे खीर लौं, खरौ सवादिलु होइ ॥१३२॥

शब्दार्थ—ताते=क्रोध भरे, कठोर। मो रस=मेरा प्रिय प्रीति रस। सवादिलु=स्वादिष्ट।

प्रसंग—किसी अन्या में रत अतः साफ्राध नायक से अधीरा नायिका ने क्रोधभरे वचन कहे हैं पर ढीठ नायक इस व्यवहार से उसपर और अधिक रीझ उठा है।

अर्थ—प्रिये! तुम्हारे क्रोधपूर्ण कठोर वचन मेरे प्रेमानन्द में बाधक नहीं बन सकते। अरे ऐसे वचनों से तो मेरा स्नेह क्षण प्रतिक्षण औंटी हुई खीर की भांति अधिक स्वादिष्ट होता है।

अलंकार—पूर्णोपमा

तुलनात्मक—गुस्से में हमने तेरे बड़ा लुत्फ उठाया।
अब तो अमूमन और भी तकसीर करेंगे।'

—इंशा

कहि लहि कौनु सकै दुरी सौन जाइ मैं जाइ।
तन की सहज सुबास बन, देनी जौ न बताइ ॥१३३॥

शब्दार्थ—सौन जाइ=पीली चमेली।

प्रसंग—सखी नायक से नायिका के गौर शरीर की प्रशंसा करके उसे लक्षित करा रही है।

अर्थ—पीली चमेली में जा छिपी हुई उस सुन्दरी को कौन पा सकता था यदि उसके ही शरीर की स्वाभाविक सुगंध वन-वन में फैलकर उसे न बता देती।

अलंकार—उन्मीलित।

चाले की बातैं चलीं सुनत सखिनु कैं टोल।
गोएं हूं लोइन हंसत, बिहंसत जात कपोल ॥१३४॥

शब्दार्थ—टोल=मण्डली। चाले=गौना।

प्रसंग—परिणीता नायिका गौने में पतिगृह जाएगी। यह चर्चा सखियों में चली हैं जिसे सुनकर वह अन्तरंग में मुदित है। एक सखी दूसरी सखी से नायिका का यही भाव व्यंजित करती है।

अर्थ—सखियों के बीच चाले की चर्चा सुनकर नायिका आंखें छिपाकर हंसती है पर उसके कपोलों पर मुस्कराहट आ ही जाती है (हर्षातिरेक के कारण)।

अलंकार—प्रहर्षण तृतीया विभावना से पुष्ट।

सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई-उखारि।
हरी हरी अरहरि अजैं, धरि धरहरि जिय नारि ॥१३५॥

शब्दार्थ—बनौ=कपास की। धरहरि=धैर्य।

प्रसंग—रति आतुरा नायिका को सखी धैर्य बंधाती है।

अर्थ—यद्यपि सन सूख गया, कपास भी समाप्त हो गया, ऊख (गन्ना) भी उखाड़ लिया गया (अर्थात् तेरे सभी मिलन-स्थल समाप्त हो गए हैं) फिर भी, हे नारी! हृदय में धैर्य धर, अभी अरहर तो हरी-भरी खड़ी है।

अलंकार—काव्यलिङ्ग।

आए आपु भली करी, मेटन मान-मरोर।
दूरि करौ यह, देखिहै छला छिगुनियां-छोर ॥१३६॥

प्रसंग—सापराध नायक नायिका के समीप आया है। सखी उसे समझाती है।

अर्थ—उसकी मान की ऐंठन को दूर करने के लिए आपने बड़ी कृपा की है परन्तु यह किसी अन्या का छल्ला, जो आपकी कनिष्ठिका में अटक रहा है,

आप दूर कर लें (उतारकर अलग रख दें) अन्यथा बात और बिगड़ जाएगी।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

> मेरे बूझत बात तू कत बहरावति बाल।
> जग जानि विपरीत रति, लखि बिंदुली पिय-भाल ॥१३७॥

शब्दार्थ—बहरावति=टालती है। बिंदुली=टिकुली।

प्रसंग—नायक के भाल पर टिकुली देखकर सखियां नायिका से विपरीत रति की बात पूछती हैं और वह अनसुनी कर देती है—पर सखी अपनी बात का प्रमाण भी देती हैं।

अर्थ—हे बाला ! मेरे पूछने पर तू बात को क्यों टालती है ? अरी, तेरे प्रिय के भाल पर तेरी टिकुली देखकर सारे संसार ने तेरी विपरीत रति जान ली है।

अलंकार—अनुमान।

> फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसासु।
> साईं ! सिर-कच-सेत लौं, बीत्यौ चुनति कपासु ॥१३८॥

शब्दार्थ—उसासु=लम्बी दुःखपूर्ण श्वास। साईं (सम्बोधन)=हे भगवान। बीत्यौ=समाप्तप्राय।

प्रसंग—अनुशयाना नायिका का संकेतस्थल नष्ट हो रहा है। अतः वह खिन्न है—उसी भाव को एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

अर्थ—हाय ! यह दीना बार-बार बिलखती है और लम्बी-लम्बी दुःखभरी श्वासें लेती है। हे भगवान् ! यह बाला कपास की अन्तिम फसल ऐसे चुन रही है जैसे श्वेत बाल चुनते समय रसिक व्यक्ति निराशा का अनुभव करते हैं।

> डगकु डगति सी चलि, ठठुकि चितई, चली निहारि।
> लिए जाति चितु चोरटी, वहै गोरटी नारि ॥१३९॥

शब्दार्थ—डगकु=लगभग एक पग। ठठुकि=कुछ रुककर।

प्रसंग—नायक नायिका की चेष्टाओं पर रीझकर स्वगत कहता है।

अर्थ—(कंप सत्व के कारण) एकाध डगभर चली फिर ठिठककर देखा और अर्थभरी दृष्टि डालती हुई (संकोच वश) चल दी—आगे चली गई। हाय, वह गौराङ्गी स्त्री मेरे हृदय को चुरा कर लिए जा रही है।

विशेष—१. आंगिक चेष्टाओं—अनुभावों का अत्यन्त सरस चित्रण किया गया है।

२. बिहारी की मनोभावों की पकड़ अनुपम है।

करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूं चसमा चखनु, चाहै लहै न मीचु ॥१४०॥

प्रसंग—सखी नायिका की विरहगत मरणदशा नायक से कहती है।

अर्थ—विरह ने उसे इतना क्षीणकाय कर दिया है कि मृत्यु आंखों पर चश्मा लगाकर भी उसे नहीं खोज पाती है। इतनी असह्य वेदना देने पर भी नीच विरह उसका पीछा नहीं छोड़ता है। (अतः तुम्हें उसकी दशा पर दया आनी चाहिए)

अलंकार—अत्युक्ति, विशेषोक्ति।

तुलनात्मक—इन्तहाए लागरी से जब नज़र आया न मैं।
हंस के वो कहने लगे, बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥

जपमाला छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-कांचै नाचै बृथा, सांचै रांचै रामु ॥१४१॥

पसंग—झूठी भक्ति पर कवि की उक्ति।

अर्थ—माला जपने से (ऊपरी मन से) अथवा मात्र माला हाथ में लेने से, राम नाम की अंग पर छाप लगाने से और तिलक लगाने से, रे मनुष्य तेरा एक भी काम न बनेगा (अर्थात् तेरा उद्धार न होगा)। तू अपवित्र मन लेकर संसार में व्यर्थ ही भक्ति का झूठा नृत्य कर रहा है, अरे सच्चे मन पर ही भगवान अनुरक्त होते हैं।

जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि, नैंक बिलोकियै, चलि अचकां चुपचापु ॥१४२॥

प्रसंग—सखी नायक से नायिका की विरह-क्षीण दशा का उल्लेख कर रही है।

अर्थ—यदि आप उस विरहिणी के शरीर की दशा देखना चाहते हैं, तो मैं आपकी बलैय्या लेती हूं, आप सहसा और चुपचाप पहुंचकर उसे थोड़ा साक्षात् देख लीजिए। (शायद आप मेरी बात का विश्वास न करें कि वह मरणासन्न है।)

जटित नील मनि जगमगति, सींक सुहाई नांक।
मनौ अली चम्पक-कली, बसि रसु लेतु निसांक ॥१४३॥

शब्दार्थ—सींक=नाक का भूषण।

प्रसंग—नायिका के नासिका भूषण पर रीझा हुआ नायक स्वगत।

अर्थ—उसकी सुन्दर नासिका में नीलमणि-जटित सींक अत्यधिक जगमगा रही है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि भौंरा चम्पे की कली पर बैठकर निश्चिन्त भाव से रसपान कर रहा है। (साधारणतया भौंरा चम्पे पर नहीं

बैठता—पर रसान्धता की दशा में यह आचरण सर्वथा सम्भव है)

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

फेरु कछुक करि पौरितैं, फिरि चितई मुसुकाइ ।
आइ जावनु लैन जिय, नेहैं चली जमाइ ॥१४४॥

प्रसंग—नायक किसी पड़ोसिन की चेष्टा पर आसक्त होकर स्वगत कहता है

अर्थ—उस सुन्दरी ने लौटते समय पौरी से घूमकर कुछ ऐसी मुस्कानभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा कि वह आई तो जामन (खट्टे दही) के लिए थी और मेरे हृदय में (अपना) स्नेह (प्रेम, घी) जमा कर चली ।

अलंकार—पर्यायोक्ति—छल से कार्य साधन ।
परिवृत्ति—जाम लेकर नेह दे गई—श्लेष ।

विशेष—सलौनी आंगिक चेष्टा का मोहक चित्र ।

जदपि तेज रौहाल-बल, पलकौ लगी न बार ।
तौ ग्वैंडौ घर कौ भयौ, पैंड़ौ कोस हज़ार ॥१४५॥

शब्दार्थ—रौहाल-बल=घोड़े के कारण । ग्वैंडौ=गांव के बाहर का हिस्सा ।

प्रसंग—नायक परदेस से आया है—उसने लम्बा मार्ग पार कर लिया, पर गांव के पास आ जाने पर (मिलन की उत्सुकता के कारण) उसे मार्ग हज़ारों मील लम्बा लगा । यही भाव नायक अपनी नायिका पर प्रकट कर रहा है ।

अर्थ—यद्यपि तीव्रगामी घोड़े के पराक्रम के कारण मुझे लम्बा मार्ग तय करने में किंचिन्मात्र भी देर न लगी परन्तु (मिलनोत्सुकता के कारण) घर के पास की भूमि हज़ार कोस जैसी दूर प्रतीत हुई ।

अलंकार—विशेषोक्ति ।

पूस मास सुनि सखिनु पैं साइँ चलत सवारु ।
गहि कर बीन प्रबीन तिय, राग्यौ रागु मलारु ॥१४६॥

शब्दार्थ—सवारु=प्रातःकाल । राग्यौ=गाया ।

प्रसंग—नायक का परदेश गमन रोकने के लिए नायिका ने मल्हार राग आरम्भ किया है—सखी सखी से—

अर्थ—पूस के ठंडे महीने में सखियों से यह सुनकर कि प्रिय प्रातःकाल विदेश गमन करेंगे, चतुर प्रिया ने (उसे—प्रिय को रोकने के निमित्त) हाथ में बीन लेकर मल्हार राग (पानी बरसाने के लिए—ताकि अनिष्ट की संभावना से प्रिय का गमन रुक जाए) प्रारम्भ किया ।

अलंकार—पर्यायोक्ति, उपायाक्षेप ।

बन-तन कौं, निकसत लसत, हंसत हंसत, इत आइ।
दृग खंजन गहि लै चल्यौ, चितवनि चैंपु लगाइ ॥१४७॥

शब्दार्थ—बन-तन=बन की ओर। चैंप=चिपकने वाला पदार्थ।

प्रसंग—नायिका नायक की चेष्टा पर मन्त्रमुग्ध हो गई है यही बात वह अपनी सखी से कह रही है।

अर्थ—हे सखि ! वन की ओर गमनोन्मुख वह खेलता और हंसता-हंसता यहां से निकला। और अपनी आकर्षक चितवन की चैंप लगाकर मेरे भोले नेत्र खंजनों को भी अपने साथ ले चला। (मैं परवश हूं)

अलंकार—रूपक।

मरनु भलौ बरु बिरह तैं यह निश्चिय करि जोइ।
मरन मिटै दुख एक कौ, बिरह दुहूं दुःख होइ ॥१४८॥

प्रसंग—किसी सामाजिक या कौटुम्बिक बाधा के कारण नायक नायिका एक-दूसरे से मिल नहीं पाते हैं अतः अत्यन्त दुःखी हैं। नायिका को तो विरह असह्य हो गया है अतः वह अपनी सखी से निज मरण की बात करती है।

अर्थ—ऐसे असह्य विरह की अपेक्षा तो मेरी मृत्यु हो जाए, यही मेरे हृदय ने ठान लिया है; क्योंकि मृत्यु से एक का दुःख तो मिटेगा, विरह में तो दोनों ही दुखी होते हैं।

अलंकार—लेशपुष्ट काव्यलिङ्ग।

हरषि न बोली, लखि ललनु, निरखि अमिलु संग साथु।
आंखिनु ही मैं हंसि, धरयौ सीस हियैं धरि हाथु ॥१४९॥

प्रसंग—नायिका की चातुर्यपूर्ण आंगिक चेष्टा की चर्चा एक सखी दूसरी से करती है।

अर्थ—प्रिय को बेमेल मण्डली में देखकर नायिका ने (इस भाव से कि अन्तरंग प्रीति दूसरों पर प्रकट न हो जाए) नायक से प्रसन्नता से बात नहीं की। किन्तु आंखों में ही हंसकर हाथ को हर्षातिरेक से वक्ष पर रखकर मस्तक पर रख लिया।

को जाने ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागैं नैननु लगैं, चलै न मग लगि लागि ॥१५०॥

प्रसंग—विरहतप्ता नायिका अंतरंगिनी सखी से अपनी वेदना कह रही है।

अर्थ—कौन जाने क्या होगा ? इस ब्रज में अत्यन्त विलक्षण आग लगी है। यह नेत्रों के परस्पर लगने से उत्पन्न होती है और मन रूपी सरोवर को जलाती है—इसका ऐसा प्रभाव है कि लोग ब्रज के मार्ग के पास से भी नहीं

निकलते (कहीं जल न जाए) ।

अलंकार—श्लेषमूलक रूपक (मन में), असंगति ।

घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जांचतु जाइ ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥१५१॥

प्रसंग—कवि द्वारा लोभ-निन्दा ।

अर्थ—जब मनुष्य की आंखों पर लोभ का चश्मा चढ़ जाता है तो उ॰ लघु व्यक्ति भी दाता जैसा प्रतीत होता है । (इस लोभ के वशीभूत) मनुष्य घर-घर दीन भाव से जाता है और सामने आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से (उसकी सामर्थ्य का विचार किए बिना ही) याचना करता है । (लोभ की तीव्रता में भिखारी भिखारी से ही भीख मांग उठता है)

अलंकार—रूपक ।

लै चुभकी चलि जाति जित जित जल केलि अधार
कीजत केसरि नीर से तित तित के सुरि-नीर ॥१५२॥

शब्दार्थ—चुभकी=डुबकी ।

प्रसंग—जल-केलि में रत नायिका पर नायक मुग्ध हो गया है ।

अर्थ—जल क्रीड़ा में चंचल वह सुन्दरी जिस ओर डुबकी लेकर चली जाती है, वहां-वहां का सरिता-जल केसरमय जल जैसा हो जाता है : (उस सुन्दरी की पीली-स्वर्णिम दैहिक छटा के कारण)

अलंकार—यमक, उपमा, तद्गुण ।

छिरके नाह नबोढ़-दृग, कर-पिचकी-जल-जोर ।
रोचन-रंग-लाली भई, बियतिय-लोचन-कोर ॥१५३॥

शब्दार्थ—नबोढ़=नव विवाहिता । कर-पिचकी=हाथों को मिलाकर बनाई गयी पिचकारी । बिय=दूसरी ।

प्रसंग—नायक की नायिका के प्रति की गई क्रिया को देखकर सखी अन्य सखी से कहती है ।

अर्थ—नायक ने (जल क्रीड़ा के समय) हाथ की पिचकारी की तीव्र जल-धारा से नवोढ़ा की आंखें सरबोर कर दीं, और गौरोचन जैसी लाली दूसरी स्त्री की आंखों की कोरों में हुई ।

अलंकार—असंगति ।

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहूं मुरली कहूं पीत पटु, कहूं मुकटु बन माल ॥१५४॥

प्रसंग—नायक नायिका के कटाक्ष से छटपटा रहा है । सखी नायिका से नायक की सही दशा कहती है ।

अर्थ—अरी तूने अपने नेत्रों को इतना मारक एवं पैना कर लिया है कि

लाल (नायक) इनकी चोट से मूर्च्छित होकर छटपटा रहे हैं। मुरली कहीं, पीताम्बर कहीं, मुकुट कहीं और वनमाला कहीं जा पड़ी है।

अलंकार—व्याजस्तुति। (तीखी चितवन व्यंग्य है)

> राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
> दंपति रति-विपरीत-सुख, सहज सुरत हूं लेत ।।१५५।।

प्रसंग—सखी सखी से।

अर्थ—राधा कृष्ण का और कृष्ण राधा का रूप धरकर संकेत स्थल में उपस्थित हुए हैं और ये दंपत्ति स्वाभाविक रति-क्रिया में भी विपरीत रति का सुख प्राप्त कर रहे हैं।

अलंकार—विभावना।

> चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि मुत्तिय-माल।
> भेंट होत जयसाहि सौं, भागु चाहियतु भाल ।।१५६।।

प्रसंग—कवि राजा जयशाह की दानशीलता की प्रशंसा करता है।

अर्थ—मनुष्य का भाग्य इतना भाल प्रबल हो कि महाराज जयशाह से भेंट हो जाए। (फिर तो निर्गुणी हो अथवा गुणवान दोनों ही परम सन्तुष्ट होकर लौटते हैं) बस फिर तो निर्गुण धन तथा गणवान मणि और मोतियों की माला (सहज में ही) लेकर लौटते हैं।

> जस अपजसु देखत नहीं, देखत सांवल गात।
> कहा करौं लालच भरे, चपल नैन चलि जात ।।१५७।।

प्रसंग—सखी नायिका को नेत्र-संचालन (कामुकतापूर्ण) से वर्जित करती है, पर नायिका अपनी परवशता समझाती है।

अर्थ—हे सखी! (मेरे वश की बात नहीं है), मैं क्या करूं ये मेरे चंचल नेत्र उस सांवलिया का शरीर देखते ही ऐसे ललचा उठते हैं कि फिर यश-अपयश (कुल मर्यादा) आदि कुछ नहीं देखते और उसी ओर चले जाते हैं।

अलंकार—अत्युक्ति।

> नख-सिख-रूप भरे खरे, तौ मांगत मुसकानि।
> तजत न लोचन लालची, ए ललचौंही बानि ।।१५८।।

प्रसंग—नायिका नायक की मुसकराहट के लिए लालायित है, इसीलिए खड़ी है, सखी समझाती है कि ऐसा करने से लोग हंसेंगे। पर नायिका विवश है, अतः कहती है।

अर्थ—मेरे नेत्र नायक के रूप से छक चुके हैं फिर भी न जाने क्यों ये

लालची अपनी अतृप्ति की आदत नहीं छोड़ते और एक मुसकान के लिए अड़े हैं।

अलंकार—विशेषोक्ति, रूपक ।

छ्वै छिगुनी पहुंचौ गिलत, अति दीनता दिखाइ ।
वलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि, को वलि, तुम्हैं पत्याइ ॥१५६॥

शब्दार्थ—गिलत=पकड़ लेते हो।

प्रसंग—नायिका नायक के अति-आसक्तिपूर्ण स्वभाव पर कहती है।

अर्थ—तुम बड़े चतुर हो, अत्यन्त दीनता का प्रदर्शन करके पहले कनिष्ठा (सबसे छोटी अंगुली) पकड़ते हो और फिर (चट से) पहुंचा पकड़ लेते हो। धन्य हो, तुम्हारी बात पर, बामनावतार भगवान की बात सुनने के बाद, कौन विश्वास कर सकता है। (प्रेम में बढ़ती हुई तीव्रता का सुन्दर चित्रण है)

अलंकार—लोकोक्ति, काव्यलिङ्ग ।

नैंना नैंकु न मानहीं, कितौ कह्यौ समुझाइ ।
तनु मनु हारैं हूं हंसैं, तिन सौं कहा बसाइ ॥१६०॥

प्रसंग—नायिका सखी को अपने नेत्रों की लाचारी समझाती है।

अर्थ—मैंने इन हठीली आंखों को कितना समझाया पर ये तो मेरी सीख रञ्चमात्र भी नहीं मानते। (ऐसे दुराग्रही) पर क्या वश चले जो तन मन हार जाने पर भी हंसते हैं।

अलंकार—विशेषोक्ति—समझाने पर भी नहीं मानते। श्लेषपुष्ट रूपक।

विशेष—नैंना शब्द में श्लेष के आधार पर—नै=नीति, ना=नहीं (अविवेकी) अर्थ भी हो सकता है। हारैं—के साथ जुवारी की ढिठाई से भी संगति बैठती है।

तुलनात्मक—सीने पै नहीं घाव तेरी तेग़ का क़ातिल।
यह दिल में मेरे नीव मुहब्बत की पड़ी है॥

मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ।
बसतु सुचित-अन्तर तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ ॥१६१॥

प्रसंग—सच्चे ईश्वर-भक्त का स्वगत कथन।

अर्थ—भगवान कृष्ण की मोहनी मूर्ति की अत्यन्त अद्भुत लीला है। बसती तो वह भक्त के अन्तःकरण में है और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में उसकी झलक मिलती है।

अलंकार—विरोधाभास, विभावना ।

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकट की छांह।
चटक भरयौ नटु मिलि गयौ, अटक-भटक-बट मांह ॥१६२॥

शब्दार्थ—डटतु=शोभित होता हुआ। अटक-भटक-बट=एक भूल भुलैय्यों से भरा कठिन बन-मार्ग।

प्रसंग—नायिका रति-क्रीड़ा के कारण विलम्ब से घर लौटी है पर सखियों को कुछ और ही कारण बताती है।

अर्थ—आज मैं अटक-भटक नामक कठिन बन-मार्ग में भटक रही थी कि मुकुट से शोभित एवं लटक-मटक कर चलता हुआ चटकीला नट मुझे मिल गया। (उसकी सहायता से मैं मार्ग पा सकी हूं)

अलंकार—स्वाभावोक्ति, अपन्हुति।

मलिन देह वेई बसन, मलिन बिरह कैं रूप।
पिय-आगम औरै चढ़ी, आनन्द ओप अनूप ॥१६३॥

प्रसंग—आगमिष्यत् पतिका के उल्लास की चर्चा सखी दूसरी सखी से करती है।

अर्थ—क्षीण-शरीर, बासे-पुराने वस्त्र तथा विरह के कारण मलिन आकृति वाली उस नायिका के मुख पर, प्रिय आगमन की चर्चा मात्र से अनुपम कान्ति की लहर दौड़ गई।

अलंकार—भेदकातिशयोक्ति।

रंग राती रातैं हियैं, प्रियतम लिखी बनाइ।
पाँती काती बिरह की, छाती रही लगाइ ॥१६४॥

शब्दार्थ—रंगराती=प्रेममय। रातै हियैं=प्रेमपूर्ण हृदय से। काती=
।

प्रसंग—प्रोषित पतिका को नायक का प्रेम-पत्र मिला है। उसे हृदय से लगाकर वह आनन्द विभोर हो रही है। उसका यही भाव एक सखी दूसरी से कहती है।

अर्थ—प्रियतम ने अनुरक्त हृदय से प्रेमपूर्ण पत्र अत्यन्त धैर्यदायिनी सन्तुलित शब्दावली में लिखा है। यह पत्र नायिका के विरह दुःख के लिए छुरी ही है जिसे वह नायिका वक्ष से लगाये हुए है।

अलंकार—अनुप्रास, रूपक।

लाल, अलौकिक लरिकई, लखि लखि सखी सिहाति।
आज काल्हि मैं देखियतु, उर उकसौंहीं भांति ॥१६५॥

शब्दार्थ—अलौलिक=चाञ्चल्यपूर्ण। सिहाति=किसी से प्रभावित होने पर लम्बी सांस लेना।

प्रसंग—अंकुरित यौवना अब यौवना हो चली है। सखी नायक से नायिका

की इसी दशा का उल्लेख करती है।

अर्थ—हे लाल ! उसका मस्ती भरा—अल्हड़ लड़कपन देखकर उसकी सखियां भी सुख से लम्बी-लम्बी सांसें ले रही हैं। एक-दो दिन में ही उसके वक्ष में उभार के चिह्न स्पष्ट होने लगे हैं।

अलंकार—अनुमान।

बिलखी डभकौंहैं चखनु, तिय लखि, गवनु बराइ।
पिय गहबरि आऐं गरैं, राखी गरैं लगाइ ॥१६६॥

शब्दार्थ—बराइ=टालकर। गहबरि आऐं=गला भर आना।

प्रसंग—प्रिय-गमन देखते ही नायिका की आंखें भर आईं। नायक भी अधीर हो उठा और उसे गले लगा लिया तथा अपना गमन भी स्थगित कर दिया। सखी सखी से—

अर्थ—प्रिया की डबडबाती हुई आंखें देखकर नायक ने अपना गमन स्थगित कर दिया। (अधिक अधीर हो उठने के कारण) उसका कण्ठ अश्रुविगलित हो उठा (अतः वाणी अवरुद्ध हो गई) तब उसने नायिका को गले से लगा लिया।

अलंकार—विषादन, प्रहर्षण।

प्रतिबिंबित जयसाह-दुति, दीपति दरपन-धाम।
सबु जगु जीतन कौं करयौ, काय-ब्यूहु मनु काम ॥१६७॥

शब्दार्थ—दरपन-धाम=शीश महल। काय-ब्यूहु=युद्ध के लिए सैनिकों की चक्राकार स्थिति।

प्रसंग—राजा जयशाह के आमेरगढ़ में स्थित शीशमहल की तथा राजा की प्रशंसा कवि करता है।

अर्थ—महाराज जयशाह की कान्ति शीशमहल में प्रतिबिम्बित होकर ऐसी दैदीप्यमान होती है जैसे कि संसार-विजय के लिए कामदेव ने (अपने अनेक रूपों से युक्त) चक्र-व्यूह बनाया हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

बाल, कहा लाली भई, लोइन-कोइनु छांह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की, परी दृगनु मैं छांह ॥१६८॥

शब्दार्थ—लोइन-कोइनु=आंखों के कोपों में। छांह=चमक-प्रतिच्छाया।

प्रसंग—खण्डिता नायिका के नेत्र सापराध नायक पर क्रुद्ध हैं। नायक भोला बनकर नायिका से क्रोध का कारण पूछता है और नायिका बड़ा चातुर्यपूर्ण उत्तर देती है।

अर्थ—हे बाला ! तुम्हारी आंखों के कोपों में यह लाली कैसे आ गई है ? हे लाल ! (कोई और कारण नहीं है केवल) तुम्हारी लाल (रात्रि-जागरण

से जो किसी परकीया के साथ किया है) आंखों का प्रतिबिम्ब ही मेरी आंखों में पड़ रहा है।

अलंकार—अपन्हुति।

> तरुन कोकनद बरनबर भये अरुन निसि जागि :
> वाही कैं अनुराग दृग रहे मनौ अनुरागि ॥१६६॥

प्रसंग—खण्डिता नायिका नायक से।

अर्थ—हे लाल ! तुम्हारे नेत्र लाल कमल जैसे लाल रात्रि-जागरण के कारण हो गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी हृदयस्था के अनुराग से तुम्हारे दृग भी रंगीले हो गए हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक।

विशेष—व्यंग्य का तीखापन दृष्टव्य है।

> तजत अठान न, हठ परयौ सठमति, आठौ जाम।
> भयौ बामु वा बाम कौं, रहे काम बेकाम ॥१७०॥

प्रसंग—सखी नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है।

अर्थ—दुष्ट काम आठों प्रहर उस वामा के पीछे पड़कर दुख दे रहा है, अपनी यह खोटी टेव नहीं छोड़ता है। ऐसे काम का बुरा हो।

अलंकार—यमक, विरोधाभास (वामा को काम बाम हो गया है)

> आवत जात न जानियत, तेजहिं तजि सियरानु !
> घरहिं जंवाई लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु ॥१७१॥

प्रसंग—कवि पौष मास के छोटे दिनों का वर्णन करता हुआ घर-जमाई का उपहास करता है।

अर्थ—पूस-मास के दिन का प्रमाण घर-जमाई की भांति डटकर कम हो गया है। अब तो दिन आता-जाता भी ज्ञात नहीं होता तथा उष्णता को छोड़कर अत्यन्त ठंडा हो गया है। (गृह-जामाता भी ससुराल में रहने के कारण अपना महत्त्व खो बैठता है।)

अलंकार—श्लेष पुष्ट पूर्णोपमा।

> चलत चलत लौं लै चलैं, सब सुख संग लगाइ।
> ग्रीषम-बासर सिसिर-निसि, प्यौ मो पास बसाइ ॥१७२॥

प्रसंग—प्रवास पर जाने वाले नायक के कारण दुःखिनी नायिका को सखियां धैर्य बंधाती हैं परन्तु नायिका कहती है

अर्थ—(प्रिय के गमन के पश्चात् की तो कौन कहे) उनके चलते-चलते ही (गमन करते ही) मेरे समस्त सुख भी उन्हीं के साथ चले जाते हैं। हां, मेरे

पास तो (मेरे हितैषी प्रिय) ग्रीष्म के लम्बे दिन और शिशिर की दीर्घकाय रातें ज्ञसा जाते हैं ।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा ।

बेसरि-मोती-दुति-झलक पूरी ओठ पर आइ ।
चूनो होइ न चतुर तिय, क्यों पट-पोंछ्यौ जाइ ।।१७३।।

प्रसंग—नव यौवनवती नायिका से सखि परिहास करती है ।

अर्थ—अरी सुन्दरी ! तेरे ओठ पर नासिका-भूषण के मोती की आभा पड़ रही है । प्रवीणे, यह चूना नहीं है, भला वस्त्र से पोंछने से कैसे दूर होगा ?

अलंकार—भ्रान्त्यापन्हुति ।

चितु बितु बचतु न, हरत हठि लालन दृग बरजोर ।
सावधान के बटपरा ए, जागत के चोर ।।१७४।।

शब्दार्थ—बटपरा=डाकू, लुटेरे ।

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी विवशता सखी से कहती है ।

अर्थ—हाय, मेरा मन रूपी धन सुरक्षित नहीं रह पाता । प्रिय की हठीली आंखें बलपूर्वक उसे हर लेती हैं । (विचित्रता यह है कि) प्रिय की ये आंखें सावधान व्यक्ति के लिए डाकू तथा जागृत व्यक्ति के लिए चोर हैं । (अर्थात् पूर्ण विवेक की अवस्था में भी लूट लेते हैं) ।

अलंकार—विभादना, रूपक ।

विकसित-नवमल्ल-कुसुम-निकसित परिमल पाइ ।
परसि पजारति बिरहि-हिय, बरसि रहे की बाइ ।।१७५।।

प्रसंग—नायिका सखो से ।

अर्थ—खिले हुए नवमल्लिका के पुष्पों से निर्गत सुगन्ध से सम्प्रक्त (मिश्रित) वर्षा-काल का पवन मुझ विरहिणी के हृदय को स्पर्श मात्र से दग्ध करता है ।

विशेष—उद्दीपन विभाव का सुन्दर चित्रण है ।

अलंकार—विभावना ।

गोप अथाइनु तैं उठे, गोरज छाई गैल ।
चलि, बलि, अलि, अभिसार की भली संझौखैं सैल ।।१७६।।

शब्दार्थ—अथाइनु=गांवों में लोगों के एकत्र बैठने का स्थान । अभिसार= नायक-नायिका का एकान्त मिलन के लिए गमन ।। संझौखैं=सन्ध्या समय ।

प्रसंग—दूती नायिका को अभिसार के लिए उचित समय की सूचना देती है ।

अर्थ—इस समय गोप (ग्वाले) अथाइयों से उठ गए हैं और मार्ग में

गायों के लौटने से धूल छाई हुई है (अतः तुझे कोई देख न सकेगा) हे सखी, मैं तेरे निहोरे करती हूं, तू शीघ्र ही ऐसे सन्ध्या-समय अभिसार को चल।

पहुंचति डटि रन-सुभट लौं, रोकि सकैं सब नांहि।
लाखनु हूं की भीर मैं, आंखि उहीं चलि जांहि ॥१७७॥

प्रसंग—कटाक्षपात-निपुणा नायिका का लक्ष्य समझी हुई सखी उससे कहती है।

अर्थ—हे सखी! कुशल-रणधीर योद्धा की भांति तेरी आंखें लाखों की भीड़ को चीरती हुई अपने लक्ष्य प्रतिद्वन्द्वी (प्रिय) के सामने निर्भीकतापूर्वक पहुंचती है। समस्त जन-समुदाय उन्हें रोक नहीं पाता।

अलंकार—उपमा, विभावना।

सरस सुमिल चित-तुरंग की, करि करि अमित उठान।
गोइ निबाहैं जीतियै खेलि प्रेम-चौगान ॥१७८॥

शब्दार्थ—सरस=रसपूर्ण, पुष्ट। सुमिल=प्रेमी, मिलकर रहने वाले (गोल में रहने वाले)। चौगान=घोड़ों के खेल, पोलो जैसा एक खेल। गोइ=गुप्त, गेंद।

प्रसंग—सखी नायिका को प्रेम को गुप्त रखने की शिक्षा देती है।

अर्थ—मन रूपी सरस एवं मिलनसार घोड़े को अत्यधिक उत्साहित करके तथा गोप्य रूप में निर्वाह करने से ही प्रेम रूपी चौगान (खेल) में विजय प्राप्त होती है।

अलंकार—श्लेष पुष्ट रूपक।

हंसि हंसि हेरति नबलतिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति ॥१७९॥

शब्दार्थ—उमदाति=उन्नमत्त होती हुई।

प्रसंग—नवोढ़ा नायिका को सखियों ने मदिरापान कराया है। वह अब नायक के समक्ष रसीले वचन बोलती है एवं मादक आंगिक चेष्टाएं कर रही है। यही बात एक सखी दूसरी सखी से कहती हैं।

अर्थ—मदिरा के नशे में चूर वह नवोढ़ा नायिका हंस-हंसकर देखती है, मस्ती में झूमती है, बहक-बहक कर बोलती है तथा बड़ी तीव्रता से प्रिय से लिपट जाती है।

अलंकार—स्वभावोक्ति, समुच्चय, वीप्सा।

मिलि चन्दन-बेंदी रही, गोरैं मुंह न लखाइ।
ज्यौं ज्यौं मद-लाली चढ़ै, त्यौं त्यौं उघरति जाइ ॥१८०॥

प्रसंग—सखी, मद्य पीता नायिका की नशीली अवस्था की सूचना नायक को दे रही है।

अर्थ—उसके गौर मुख पर चन्दन की बिन्दी ऐसी मिल गई है कि पृथक नहीं देखी जाती। परन्तु ज्यों-ज्यों मदिरा की लाली चढ़ रही है त्यों-त्यों वह बिंदी प्रत्यक्ष होती जा रही है। (इसी का संकेत है कि यही समय, उस नायिका के भोग के लिए उचित है)

अलंकार—उन्मीलित।

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु कांचौ कांच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहां ॥१८१॥

शब्दार्थ—निरधार=निश्चय से।

प्रसंग—किसी अद्वैतवादी का स्वगत वाक्य।

अर्थ—मैंने तो निश्चयपूर्वक यह समझ लिया है कि यह संसार कच्चे कांच के समान (असत्य एवं नश्वर) है। इसमें केवल एक रूप (ईश्वर-ब्रह्म) के ही अनन्त प्रतिबिम्ब झलकते हैं। (अर्थात् इस नश्वर संसार की प्रत्येक वस्तु में ईश्वर विद्यमान है।)

अलंकार—उपमा, काव्यलिङ्ग।

जहां जहां ठाड्यौ लख्यौ, स्यामु सुभग-सिरमौरु।
बिन हूं उन छिनु गहि रहतु, दृगनु अजौं वह ठौरु ॥१८२॥

प्रसंग—प्रवासी कृष्ण के स्मरण में लीन गोपियां।

अर्थ—भाग्यशाली पुरुषों में शिरोमणि श्याम को जिन जिन स्थानों पर हमने खड़ा देखा था, आज वे स्थान यद्यपि उनसे सूने हैं फिर भी हमारी आंखों को क्षणभर के लिए पकड़ लेते हैं।

अलंकार—स्मरण।

रंगी सुरत-रंग, पिय-हियैं लगी जगी सब राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठठुकि कै, ऐंड़ भरी ऐंड़ाति ॥१८३॥

शब्दार्थ—पैंड़ पैंड़=पग पग पर। ऐंड़-भरी=गर्वयुक्त। ऐंड़ाति=ऐंठती है।

प्रसंग—रतिगर्विता नायिका की गर्वभरी चेष्टाओं की चर्चा सखी दूसरी सखी से करती है।

अर्थ—प्रिय के वक्ष से लगकर पूरी रात जागकर इसने रति की है अतः इसी की मस्ती में चूर है और पग-पग पर ठिठक-ठिठक (रुक रुक) कर गर्व से अकड़ रही है।

अलंकार—अनुमान, रूपक, वीप्सा, स्वभावोक्ति।

विशेष—आलस्य और गर्वसंचारी भावों की सुन्दर योजना है।

लालन, लहि पाऐं दुरैं चोरी सौंह करैं न।
सीस-चढ़े पनिहा प्रगट, कहैं पुकारैं नैन ॥१८४॥

शब्दार्थ—सौंह=शपथ। पनिहा (प्रणिधाः)=दूत।

प्रसंग—प्रातःकाल अन्यत्र रति करके लौटे हुए नायक से खण्डिता अधीरा नायिका कहती है—

अर्थ—प्रिय! देख लेने पर चोरी शपथ खाने से नहीं छिपती। ये तुम्हारी सर चढ़ी आंखें (रात्रि जागरण के कारण) दूत बनकर सब रहस्य पुकार-पुकार कर कह रही हैं।

अलंकार—रूपक।

तुरत सुरत कैसैं दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।
डौंड़ी दै गुन रावरे, कहति कनौड़ी डीठि ॥१८५॥

शब्दार्थ—कनौड़ी=अपराधभरी।

प्रसंग—खण्डिता नायिका नायक से।

अर्थ—तत्काल की रति कैसे छिप सकती है। तुम्हारे नेत्र मेरे सामने बड़ी कठिनता से (लज्जा के मारे) थोडी देर के लिए आते हैं और मड़ जाते हैं। अरे! तुम्हारी सापराध दष्टि ढिंढोरा पीट-पीटकर तुम्हारे गुण (अवगुण) बता रही है।

अलंकार—अनुमान, वक्रोक्ति, लोकोक्ति।

मरकत-भाजन-सलिल-गत इंदुकला कैं बेख।
झींन झगा मैं झलमलै, स्यामगात-नख रेख ॥१८६॥

शब्दार्थ—मरकत=नीलमणि।

प्रसंग—नायक के शरीर पर नखक्षत देखकर नायिका ने अन्य स्त्री से रति का अनुमान कर लिया और कहा।

अर्थ—तुम्हारे पारदर्शक अंगरखा (चोगा) में से झलकते हुए श्यामल शरीर में झिलमिलाता हुआ नखक्षत (ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि) नीलम की थाली के स्वच्छ जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला चमकती है।

अलंकार—गम्योत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा)।

बालमु बारैं सौति कै, सुनि परनारि-बिहार।
भो रसु अनरसु, रिसरली, रीझ खीझ इक बार ॥१८७॥

शब्दार्थ—बारैं=क्रम पर, पारी में।

प्रसंग—नायिका विभिन्न विरोधी भावों से भरी हुई है क्योंकि नायक ने आज सौत को धोखा देकर अन्या से विहार किया है। नायिका के भावों की चर्चा सखी सखी से करती है।

अर्थ—यह सुनकर कि आज बालम ने सौत की पारी होने पर भी अन्य स्त्री से विहार किया है; नायिका को एक साथ ही सुख, दुःख, क्रोध, रली (उपहास), प्रसन्नता और चिढ़ ये परस्पर-विरोधी भाव उत्पन्न हुए।

"सुख ईर्ष्याजिन्य, कि अच्छा हुआ सौत को दुःख हुआ। दुःख इस बात का कि एक सौत तो थी ही अब एक और हुई। रिस इस बात की कि नायक मेरे ही यहां क्यों न चला आया? रली (क्रीड़ा या मज़ाक) इस बात पर कि सौत ऐसी गुणवती नहीं है कि प्रीतम को वश में करके अपने पास रख सके। रीझ इस बात की कि नायक मेरे ऊपर अधिक अनुरक्त है क्योंकि मेरी पारी में कहीं नहीं जाता। खीझ इस बात की कि बुरी आदत पड़ी, सम्भव है कभी मेरी पारी के दिन भी नायक परस्त्री के पास जाए।"—बिहारी बोधिनी, पृष्ठ २२२।

अलंकार—समुच्चय, हेतु।

> दुरत न कुच, बिच कंचुकी-चुपरी, सारी सेत।
> कबि आंकनु के अरथ लौं, प्रगटि दिखाई देत ॥१८८॥

शब्दार्थ—आंकनु=अक्षरों।

प्रसंग—सखी नायिका के उठते हुए कुचों की स्वगत प्रशंसा करती है।

अर्थ—लेप आदि से युक्त अंगिया तथा श्वेत साड़ी में अब उसके उठते हुए उरोज नहीं छिपते। कवि के (भावपूर्ण) अक्षरों के अर्थ की भांति (उसके स्तन) स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा।

दृष्टव्य—दुपट्टा लाख सीने पर संभालो कब सम्हलता है।
अकेले का कहीं दो सरकशों पर ज़ोर चलता है॥

> भई जु छबि तन बसन मिलि, बरनि सकैं सुन बैन।
> आंग-ओप आंगी दुरी, आंगी आंग दुरै न ॥१८९॥

शब्दार्थ—आंग=अंग। आंगी=अंगिया।

प्रसंग—सखी नायिका के अद्भुत सौन्दर्य की चर्चा करके नायक को रिझाना चाहती है।

अर्थ—जो (अद्भुत-मारक) शोभा उसके शरीर में वस्त्रों के मिल जाने से (अदृश्य हो जाने से) उत्पन्न हुई है, वह वचनातीत है। उसके अंग की कांति से अंगिया छिप गयी है और अंगिया से अंग (स्तन) नहीं छिपते। (ऐसा लगता है कि वह अंगिया पहने ही नहीं है। अंगिया का वस्त्र इतना अधिक पारदर्शक एवं नायिका के वर्ण से मेल खाता हुआ है कि वह लक्षित ही नहीं होता)।

अलंकार—१. वाचक धर्मोपमान लुप्ता उपमा (पूर्वार्ध में)।
२. मीलित् (तृ० चरण में)।
३. विशेषोक्ति (च० चरण में) हेतु होने पर भी फल का अभाव—अंगिया अंग नहीं छिपा पा रही है।

सोन जुही सी जगमगति अंग-अंग जोवन-जोति।
सुरंग कसूंभी कंचुकी दुरंग देह-दुति होति ॥१९०॥

प्रसंग—सखी नायक से नायिका की यौवनावस्था का उल्लेख कर रही है।

अर्थ—उसके सर्वांग में यौवन की चमक स्वर्णजुही सदृश जगमगा रही है। इसी से उसकी कुसुंभी (लाल) चोली (अंगिया) उसके शरीर की स्वर्णिम आभा से मिश्रित होकर दुरंगी हो जाती है।

अलंकार—तद्गुण।

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु गहनौ गढ़यौ न जाइ ॥१९१॥

अर्थ—वास्तविक गुणों के अभाव में केवल नाम की प्रशंसा से कोई बड़ा नहीं होता है। यों तो लोग धतूरे से भी कनक कहते हैं पर केवल कनक (स्वर्ण) नाम से ही उसमें स्वर्ण जैसी गहने गढ़े जाने की क्षमता नहीं हो जाती।

अलंकार- अर्थान्तरन्यास।

कनक कनक तै सौ गुनौ, मादकता अधिकाइ।
उहिं खाऐं बौराइ जग, इहिं पाऐं ही बौराइ ॥१९२॥

प्रसंग—कवि की उक्ति है कि धन मनुष्य में घमण्ड की वृद्धि करता है।

अर्थ—कनक (धतूरे) की अपेक्षा कनक (स्वर्ण-धन) में सौगुना अधिक नशा रहता है क्योंकि धतूरे का प्रभाव तो उसे खाने के पश्चात् पड़ता है परन्तु धन के तो प्राप्त होते ही मनुष्य बौरा जाता है (विवेकहीन एवं अभिमानपूर्ण वार्तालाप करने लगता है)।

अलंकार—यमक, काव्यलिंग।

डीठि बरत बांधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात।
इतहिं उतहिं चित दुहुनुके, नट लौं आवत जात ॥१९३॥

शब्दार्थ—डीठि-बरत=दृष्टि रूपी रस्सी।

प्रसंग—नायक-नायिका अपनी-अपनी अटारियों पर से एक-दूसरे को अपलक देख रहे हैं। एक सखी दूसरी सखी से यही बात कह रही है।

अर्थ—दोनों ने अटारियों पर से दृष्टि रूपी रस्सी बांधी है। उसपर चढ़कर

दोनों के हृदय दौड़ते हुए तनिक भी नहीं डरते तथा नट की भांति इधर-उधर खूब आते-जाते हैं।

अलंकार—रूपक, उपमा।

विशेष—नट रस्सी पर निर्भीक होकर दौड़ता है और नायक-नायिका भी औरों के लाञ्छन-आक्षेप आदि की चिन्ता न करके एक-दूसरे को डटकर देखते हैं।

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह
भई रहनि नट कौ बटा, अटकी नागर-नेह ॥१६४॥

शब्दार्थ—झटकि=फुर्ती से। बटा=पत्थर का चिकना गोला जिसे नट बहुधा मुंह में रख लेता है फिर बाहर निकालकर दिखाता है। कभी उड़ा देता है और फिर दिखा देता है; इस तरह प्रत्येक दशा में वह बटा उसके पास ही रहता है।

प्रसंग—नायिका कहीं स्थित नायक को अटारी पर बार-बार चढ़कर देखती है। उसकी इसी क्रिया की चर्चा सखी सखी से करती है।

अर्थ—वह बड़ी तीव्रता से अटारी पर चढ़ती उतरती है, उसकी देह बिल्कुल नहीं थकती। अपने प्रिय के स्नेह से विमुग्ध वह नट के (वशीभूत बटा) क्रीड़ा-पाषाण जैसी हो गई है।

अलंकार—उपमा, विशेषोक्ति (देह थकने का कारण होने पर भी नहीं थकती)।

विशेष—१. जिस प्रकार नट गोले को कभी दिखाता और कभी छुपा लेता है उसी भांति नायिका भी चढ़ने-उतरने में जल्दी-जल्दी छिपती और प्रकट होती है। प्रीति की तीव्रता के कारण उसमें उत्साह अधिक है।

२. उल्लासपूर्ण आंगिक चेष्टा एवं उत्साह संचारी का मर्मिक चित्रण है।

लोभ लगे हरि-रूप के, करी सांटि जुरि जाइ।
हौं इन बेची बीच हीं लोइन बड़ी बलाइ ॥१६५॥

शब्दार्थ—रूप=सुन्दरता, (२) रुपया।=सौन्दर्यरूपी धन। सांटि=मेल-जोल, (२) लेन-देन। बलाइ=विपत्ति।

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका अपनी प्रीति-परवशता की चर्चा सखी से अत्यन्त कौशल से करती है।

अर्थ—हे सखी! मेरे इन नेत्र-रूपी दलालों ने मुझपर बड़ी विपत्ति डाल दी है। हरि के रूप रूपी रुपये के लोभवश, उनसे साठगांठ करके मेरा सट्टा कर डाला—मुझे बीच में ही बेच दिया।

अलंकार—रूपक, असंगति (कार्य नेत्रों ने किया और परिणाम भोगा नायिका के हृदय ने)।

तुलनात्मक—सीखे हो किससे सच कहो, प्यारे यह चाल ढाल।
तुम इक तरफ चलो हो, तो तलवार इक तरफ॥
—कायम

चिलक, चिकनई, चटक सौं, लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी सांवरी, नागिन लौं डसि जाइ॥१९६॥

शब्दार्थ—चिलक=चमक। चटक=खिलावट। लफत=लचकती हुई। सटक=पतली लचकदार छड़ी।

प्रसंग—नायक किसी सांवली पर मोहित होकर स्वगत कह रहा है।

अर्थ—चमक, चिकनापन तथा चटक-खिलावट से युक्त और लचकीली छड़ी-सी लफती हुई सामने आकर वह सांवली-सलौनी मुझे नागिन-सी डसकर जा रही है (अर्थात् मुझपर उसका सौन्दर्य-विष छा गया है, बचना कठिन है)।

अलंकार—उपमा।

तुलनात्मक—क़दम गिन-गिन के रखते हैं, कमर बल खा ही जाती है।
खुदा जब हुस्न देता है, नज़ाकत आ ही जाती है॥

और-

हर-अदा मस्ताना सर से पांव तक छायी हुई।
उफ़ तेरी क़ातिल जवानी जोश पर आई हुई॥

तोरस-रांच्यौ आन-बस कहौ कुटिल-मति, कूर।
जीभ नि बौरी क्यौं लगै, बौरी, चाखि अंगूर॥१९७॥

प्रसंग—नायक को अन्य स्त्री-रत सुनकर नायिका ने मान किया है—सखी उसे समझाती है।

अर्थ—तेरे रति-रस में लीन नायक को जो अन्यवश कहते हैं वे दुष्ट-बुद्धि हैं। अरी पगली, जिसने अंगूर चख लिए हैं उसकी जीभ निबौरी का स्पर्श भी क्यों करने लगी?

अलंकार—स० यमक, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त।

जुरे दुहुनु के दृग झमकि, रुके न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं, परै गोल पर भीर॥१९८॥

शब्दार्थ—जुरे=मिल गए। झमकि=शीघ्रता से। हरौल=मुख्य सेना की रक्षा के लिए आगे रहने वाली सेना की एक छोटी टुकड़ी। गोल=मण्डल, झुण्ड, सेना।

प्रसंग—नायक-नायिका के बीच होते हुए कटाक्ष की चर्चा सखी दूसरी सखी से कर रही है।

अर्थ—उन दोनों के नेत्र परस्पर शीघ्रता से मिल गए। नायिका का झीना-अवगुण्ठन वस्त्र नेत्रों के मिलन में बाधक उसी भांति न हो सका, जिस भांति हरावल मुख्य सेना की रक्षा नहीं कर पाती और उस पर (मुख्य सेना पर) आक्रमण हो जाता है।

अलंकार—दृष्टान्त।

केसर केसरि-कुसुम के रहे अंग लपटाइ।
लगे जानि नख अनखुली, कत बोलति अनखाइ ॥१९९॥

प्रसंग-खण्डिता नायिका से सखी का वचन।

अर्थ—नायक के शरीर में केसर पुष्पों का पराग लिपट रहा है। तुम किसी अन्य स्त्री के नखक्षत का अनुमान करके अप्रकट रूप से क्यों रुष्ट शब्दावली का प्रयोग करती हो।

अलंकार—भ्रान्तिमान, अपन्हुति।

दृग मिहचत मृग-लोचनी, भरयौ, उलटि, भुज, बाथ।
जानि गई तिय नाथ कें, हाथ परस हीं हाथ ॥२००॥

शब्दार्थ—बाथ=दोनों हाथ फैलाकर किसी से लिपट जाना, अंकवार में भरना।

प्रसंग—नायक ने नायिका की चुपके से आकर आंखें बन्द कर लीं और नायिका स्पर्शमात्र से नायक को पहचान गई तथा चट से पलटकर उससे लिपट गई। इसी क्रिया की चर्चा सखी दूसरी सखी से करती है।

अर्थ—(नायक द्वारा) ज्यों ही आंखें मीची गईं कि उस मृग-लोचनी ने उलटकर अपनी भुजाओं में उस (नायक) को भर लिया। वह नायक के हाथ के स्पर्श से ही उसका (सुपरिचित) हाथ पहचान गई।

अलंकार—अनुमान।

विशेष—स्पर्शमात्र से नायक को पहचान लिया इससे नायक-नायिका की गहरी प्रीति स्पष्ट होती है।

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग-पग होतु प्रयागु ॥२०१॥

प्रसंग—कवि आत्मबोध के लिए स्वगत।

अर्थ—रे मन! तू विभिन्न तीर्थों (में भटकना) छोड़कर श्रीकृष्ण और राधिकाजी की दैहिक कान्ति से अनुराग कर। इस अनुराग के कारण ब्रज के क्रीड़ा-कुन्जों की हर गली के पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बना हुआ है।

विशेष—राधा और कृष्ण की गौर श्याम छवि से गंगा-यमुना की उपस्थिति के साथ भक्त के अनुराग से सरस्वती का मेल भी हो जाता है। अतः तीर्थराज की बात पूर्णतया संगत है।

अलंकार—काव्यलिंग, तद्गुण।

सोहत अंगुठा पाइ कै अनवटु जरयौ जराइ।
जीत्यौ तरिवन-दुति, सुढरि परयौ तरनि मनु पाइ ॥२०६॥

शब्दार्थ—अनवटु=चांदी का जड़ाऊ, पैर के अंगूठे का भूषण। जरयौ-जराइ=जड़ा हुआ। तरिवन=कर्ण भूषण। तरनि=सूर्य।

प्रसंग—नायिका के पैर के अंगूठे के बिछुए पर मुग्ध नायक का स्वगत वचन।

अर्थ—इस सुन्दरी के पैर में जड़ावयुक्त बिछुआ (अंगुष्ठ-भूषण) ऐसा शोभित हो रहा है जैसे कि इस (नायिका) के कर्ण भूषण की चमक ने सूर्य को परास्त कर दिया है, अतः वह (सूर्य) ही झुककर (ढलकर) इसके पैर पर आ पड़ा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

औंधाई सीसी, सु लखि, बिरह-बरनि बिललात।
बिच ही सूखि गुलाबु गौ, छीटौ छुई न गात ॥२१७॥

शब्दार्थ—बरनि=जलन। गुलाबु=गुलाब जल।

प्रसंग—सखी, नायिका की दशा (विरह की) नायक से निवेदन करती है।

अर्थ—उसको विरह की असह्य जलन से चीखते देखकर (हम सखियों ने) गुलाब-जल की शीशी (उसके ऊपर) उलटी कर दी; परन्तु दुःख है, गुलाब-जल (सबका सब) बीच में ही सूख गया (भाप बनकर उड़ गया) उसके शरीर पर एक छींटा भी न पड़ा। (इससे आप उसकी विरह-वेदना के दाह का अनुमान लगा सकते हैं)।

अलंकार—अत्युक्ति।

कौड़ा आंसू-बूंद, कसि सांकर बरुनी सजल।
कीने बदन निमूंद, दृग मलिंग डारे रहत ॥२३०॥

शब्दार्थ—कौड़ा=बड़ी कौड़ी। कसि=कसकर, जकड़कर। निमूंद=खुले हुए। मलिंग=कौड़ियों की माला पहनने वाले मुसलमान फकीर जो ईश्वर-प्राप्ति के लिए मौन साधना करते हैं।

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका आंखों में आंसू भरे हुए नायक के बिरह से पीड़ित है। सखी उसकी दशा नायक से कहती है।

अर्थ—उसके नेत्र रूपी मलिंग (फकीर) अश्रुविन्दु रूपी कौड़ों (की माला) तथा सजल बरौनियों-रूपी सांकल से (स्वयं को कसकर) अनावृत-मुंह पड़े रहते हैं।

अलंकार—सांगरूपक।

गिरि तैं ऊंचे रसिक-मन, बूड़े जहां हजारु।
वहै सदा पसु नरनु कौं प्रेम-पयोधि पगारु ॥२५१॥

शब्दार्थ—पगारु=उथला नाला जो चलकर ही पार किया जा सके।

प्रसंग—कवि के प्रेम के समर्थन में उक्ति।

अर्थ—पर्वत से भी उच्च रसिक पुरुषों के सहस्रों हृदय जिस प्रेम के अपार सागर में डूब गए (उसकी थाह न पा सके) वही प्रेम का अपार समुद्र पशुवृत्ति वाले अरसिक व्यक्तियों के लिए एक साधारण नाला मात्र है। (भाव यह है कि प्रेम की गहनता न समझने वाले उसे केवल इन्द्रिय तक ही समझने वाले व्यक्ति उसका सदैव साधारण मूल्य करते हैं।)

तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय, पुन्यकाल-सम दोनु।
काहूं पुन्यनु पाइयतु बैंस-संधि-संक्रोनु ॥२७४॥

शब्दार्थ—"पुन्यकाल (पुण्य काल)=शुभ समय। ज्योतिष शास्त्र में सूर्य-पथ के मण्डल के बारह भाग माने जाते हैं। प्रत्येक भाग राशि कहलाता है। इन राशियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। सूर्य के भिन्न-भिन्न राशियों में रहने पर उसके भिन्न-भिन्न नाम कहे जाते हैं अतः द्वादश आदित्य प्रसिद्ध हैं। जब एक राशि को समाप्त करके सूर्य दूसरी राशि में प्रविष्ट होने लगता है, तो उसको दोनों राशियों की संधि-रेखा उल्लंघन करनी पड़ती है। इसी उल्लंघन को संधि अथवा संक्रान्ति कहते हैं। सूर्य-पिण्ड के मध्य-बिन्दु को इस संधि-रेखा के स्पर्श तथा त्याग में जो समय लगता है, संक्रान्ति का मुख्य पुण्यकाल वही है। वह समय बड़ा पुनीत माना जाता है, और ऐसा सूक्ष्म होता है कि उसका अनुसंधान बड़ी कठिनता से हो सकता है।

पुण्यकाल-सम दोनु=पुण्यकाल की भांति दोनों हैं, अर्थात् एकत्रित हैं। जिस प्रकार दो सूर्य अर्थात् दो राशियों के सूर्य पुण्यकाल में एक ही संधि-रेखा पर रहते हैं—उसी प्रकार इस समय उस स्त्री में दोनों अवस्थाओं की संधि है।" —रत्नाकर

प्रसंग—सखी द्वारा नायक से नायिका की वयः संधि की अनुपम अवस्था का वर्णन।

अर्थ—स्त्री रूपी उत्तम तिथि में तरुण तथा किशोर अवस्थाओं की उपस्थिति दोनों पुण्यकाल के समान विद्यमान हैं। ऐसा वयः संधि रूपी संक्रमण किसी

(बड़े भाग्यशाली) को बड़े पुण्य के प्रभाव से ही प्राप्त हो पाता है। (सखी का अभिप्राय है कि नायक को ऐसे समय उस नायिका को प्राप्त करना चाहिए।)

अलंकार—रूपक।

मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुंक आएं यहां, पुलकि पसीजै स्यामु ॥२८१॥

शब्दार्थ—त्रयताप=तीन दु:ख। आधिभौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक। हमाम=स्नान-गृह (यह अरबी शब्द है) इसे गरम किया जाता है। छत से, नीचे से और दीवारों से इसमें उष्णता का संचार किया जाता है। इससे स्नान-कर्ता को पसीना आ जाता है और रोम खुल जाते हैं। अतः स्नान का पूर्ण आनन्द आता है। हृदय रूपी हमाम भी इसी दृष्टि से त्रितापपूर्ण कहा जाता है। मति=शायद।

प्रसंग—भक्त की उक्ति।

अर्थ—(१) मैंने अपने हृदयरूपी स्नान-गृह को त्रयताप से तप्त कर रखा है, शायद कभी इस ओर श्री कृष्ण जी आएं और पुलकित होकर पसीज उठें (मुझ पर द्रवित हो उठें)।

(२) (विरहिणी के साथ भी इसका अर्थ लगता है) मैंने (मदन, विरह और सांसारिक लांछन रूपी) त्रिताप से अपना हृदयरूपी स्नान-गृह तपा रखा है। काश! कभी प्रिय इस ओर आएं और उनका हृदय पुलकित होकर पसीज उठे।

अलंकार—रूपक, श्लेष।

तिय-निय हिय जु लगी चलत पिय-नख-रेख खरौंट।
सूखन देति न सरसई, खोंटि खौंटि खत-खौंट ॥२९८॥

शब्दार्थ—निय=अपने, निज। खरौंच=नाखून अथवा कांटे की रगड़ का शरीर पर लगा घाव।

प्रसंग—प्रोषित पतिका नायिका प्रिय की स्मृति को हरा रखना चाहती है अत: नखक्षत सूखने नहीं देती। सखी अन्य सखी से नायिका का यही भाव कहती है।

अर्थ—प्रियतम के परदेश जाते समय जो खरौंट (नखक्षत) उस नायिका के अपने हृदय पर लगी (प्रिय ने जो नखक्षत किया है) उसके हरेपन को बार-बार खौंट-खौंटकर वह सूखने नहीं देती।

अलंकार—लेश, अनुप्रास।

स्वारथु, सुकृतु न श्रमु बृथा; देखि, बिहंग, बिचारि।
बाज पराएं पानि परि, तूं पच्छीनु न मारि।।३००।।

प्रसंग—किसी अत्याचारी स्वामी के चापलूस सेवक को जो स्वजनों को भी कष्ट देता है, कवि सम्बोधित करता है।

अर्थ—हे बाज पक्षी! दूसरे के वश में होकर तू पक्षियों (स्वजनों) की निर्मम हत्या न कर। हे स्वच्छन्दविहारी पक्षी! कुछ स्वयं भी विचार कर। इसमें न तो तेरा कोई हित ही है, न पुण्य ही है, अपितु व्यर्थ का श्रम ही है।

विशेष—राजा जयशाह हिन्दुओं के विरुद्ध शाहजहां की ओर से युद्ध करते थे। कवि ने इसी पर अन्योक्ति की है।

अलंकार—श्लेषपुष्ट अन्योक्ति।

इहिं द्वैहीं मोती सुगथ तूं, नथ गरबि निसांक।
जिहिं पहिरैं जग-दृग ग्रसति लसति हंसति सी नांक।।३०६।।

प्रसंग—रूठी हुई नायिका को अनुकूल करने के लिए नायक हंसाने का प्रयत्न कर रहा है।

अर्थ—प्यारी नथ! तू इन ढंग से गुंथे हुए दो मोतियों पर ही निःशंक भाव से गर्व कर। जिनके पहनने से संसार की आंखों को हतप्रभ (लुब्ध, मोहयुक्त) करती हुई नासिका हंसती-सी सुशोभित होती है।

विशेष—(१) प्रायः रूठे व्यक्ति को यह कहकर कि हंसी नाक पर अब आई, अब आई कहकर हंसाया जाता है। बड़ा सुन्दर प्रयोग है।

(२) **अलंकार**—अनुक्तविषया, वस्तूत्प्रेक्षा।

(३) गर्व संचारी का प्रभावक चित्रण है।

(४) (नाक पर हंसी आना)—मुहावरे के प्रयोग से तो दोहे में प्रेषणीयता तथा सरसता पराकाष्ठा पर पहुंच गई है।

न ए बिससियहि लखि नए, दुरजन दुसह-सुभाइ।
आंटैं परि प्राननु हरत, काटैं लौं लगि पाइ।।३११।।

शब्दार्थ—बिससियहि=विश्वसनीय। नए=नम्र। आंटैं=आपत्ति, दांव, दबाव।

प्रसंग—कवि की दुर्जनों के विषय में उक्ति।

अर्थ—ये अत्यन्त असहिष्णु स्वभाव वाले दुर्जन नम्रीभूत होने पर भी विश्वास-योग्य नहीं हैं। ये आपत्ति में पड़कर भी पैरों में लगकर (पैरों में लिपटकर, पैरों में चुभकर) कांटे की भांति प्राणों को भारी पीड़ा देते हैं।

विशेष—दुर्जन का बड़ा सुन्दर चित्रण है। विपत्ति में भी ये अवसर पाते ही अपनी ओछी प्रकृति से नहीं चूकते।

अलंकार—पूर्णोपमा।

गढ़-रचना, बरुनि, अलक, चितवनि, भौंह, कमान।
आनु बंकाईहीं चढ़ै, तरुनि, तुरंगत, तान ॥३१६॥

शब्दार्थ—बंकाईहीं=टेढ़ापन, बांकापन। तान=खिचाव, (२) तने रहना (शीघ्र अनुकूल न होना)।

प्रसंग—नायक पर चट से रीझी नायिका को सखी समझा रही है कि इस प्रकार शीघ्रता से अनुकूल हो जाने पर मूल्य नहीं रहता।

अर्थ—(१) गढ़-रचना, बरौनी, केश, चितवन, भ्रकुटि, कमान (धनुष की), तरुणी स्त्री, घोड़ा तथा तान (गायन का उतार-चढ़ाव) का मूल्य टेढ़ेपन से ही बढ़ता है।

(२) गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवन, भौंह और कमान का मूल्य इनके बांकपन (टेढ़ेपन) से ही बढ़ता है तथा तरुणी स्त्री तथा घोड़े का तान (खिचाव) से (शीघ्र अनुकूल न होने से)।

अलंकार—दीपक, श्लेष (तान में)

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥३४७॥

शब्दार्थ—सबी=चित्र। गरई गरूर=घमण्ड, अभिमान। कूर=हतबुद्धि, बेवकूफ।

प्रसंग—दूती नायक से अंकुरित यौवना नायिका के क्षण प्रतिक्षण वर्धमान सौन्दर्य की चर्चा करके उसे रुचि उत्पन्न करा रही है।

अर्थ—(उसका क्षण प्रतिक्षण वर्धमान सौन्दर्य अनुपम है) उसका चित्र अंकित करने के लिए संसार के न जाने कितने निपुण चित्रकार घमण्ड और अभिमान से भर-भरकर न बैठे और अन्त में मूढ़मति (बुद्धू) न बने।

अलंकार—विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, अनुप्रास, असावृत्ति दीपक।

विशेष—चित्र न बन सकने के सम्भाव्य कारण क्या हो सकते हैं—

१. क्या चित्रकार अल्पज्ञ थे ?
२. क्या सौन्दर्य अलौकिक था ?
३. क्या चित्र-चित्रण के समय चित्रकार में सात्विक स्तम्भ, स्वेद, कम्प, लोमहर्षक आदि भावों का उदय हो जाता था ?

४. क्या वयः सन्धि के कारण सौन्दर्य क्षण-प्रतिक्षण बढ़ रहा था ? अन्तिम ही अधिक संगत है।

तुलनात्मक—तदेव रूपं रमणीयतायाः क्षणे-क्षणे यन्नवता मुपैति !

—माघ

और—

शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे-यार।
आप ही तसवीर उसको देखकर हो जाएगा॥

—ज़ौक

सगरव गरब खींचैं सदा, चतुर चितेरे आय।
पर बाकी बांकी अदा, नैंकु न खींची जाय॥

—शृंगार सतसई

दृगनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अंग आन।
ए तेरे सब तें विषम, ईछन-तीछन बान ॥३४६॥

प्रसंग—नायिका के पैने नेत्रों से घायल नायक स्वगत कहता है।

अर्थ—हाय ! ये तेरे कटाक्ष रूपी तीक्ष्ण बाण (संसार के और सब बाणों से अधिक) विषम—पैने हैं। ये टकराते तो आंखों से हैं, बेधते हृदय को हैं और वेदना (दर्द) देते हैं अन्य (कामुकता भरित) अंगों को।

अलंकार—असंगति, व्यतिरेक।

तुलनात्मक—देखा जु हुस्न यार का तबियत मचल गई।
आंखों का था कुसूर छुरी दिल पै चल गई॥

तथा—

एक बारी धक् से होकर, दिल की फिर निकली न सांस।
किस शिकारन्दाज का यह तीरे बे आवाज़ है॥

—सोज़

भाल-लालबैंदी-छए, छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु, अति आहुकरि, मनु ससि सूर समेत ॥३५५॥

शब्दार्थ—आहु=(आहव) युद्ध के लिए ललकारना।

प्रसंग—सद्यः स्नात नायिका के अभी बाल छिटके हुए ही हैं और उसने अपने ललाट पर लाल बैंदी लगा ली है। नायक उसे चुपके से देखकर मुग्ध होकर प्रशंसा करता

अर्थ—उसके ललाट तथा लाल बिंदिया पर छाये हुए छुटे बाल ऐसी शोभा देते हैं मानो राहु ने बड़ी ललकार के साथ चन्द्रमा को सूर्य सहित बन्दी बना लिया है।

विशेष—यदि ससि सूर को कर्ता और राहु को कर्म माना जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा—चन्द्र और सूर्य ने एक होकर राहु को बन्दी बना लिया है।

अलंकार—उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा।

तिय, कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिहि भौंह कमान।
चलचित-बेझैं चुकति नहिं, बंक बिलोकनि-बान ॥३५६॥

शब्दार्थ—कित=कहां। कमनैती=धनुर्विद्या। जिहि=ज्या (डोरी)। बेझैं=लक्ष्य पर (निशाने पर)।

प्रसंग—नायिका की तिरछी चितवन से आहत नायक उसी से कहता है।

अर्थ—सुन्दरी! तुमने यह अद्‌भुत धनुर्विद्या कहां सीखी है? भौंह की डोरी रहित कमान तथा तिरछी चितवन के बाण से चंचल चित्त रूपी लक्ष्य पर (निशाना बांधने में) चूकती नहीं हो।

अलंकार—विभावना।

तुलनात्मक—तिरछी नज़रों से न देखो, आशिके-दिलगीर को।
कैसे तीरन्दाज़ हो, सीधा तो कर लो तीर को॥

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई, नई यह रीति ॥३६३॥

प्रसंग—नायिका अपनी प्रेम-विह्वल दशा सखी को सुना रही है।

अर्थ—प्रीति में उलझते तो नेत्र हैं पर टूटता है कुटुम्ब और प्रेमी हृदय एक हो जाते हैं—जुड़ जाते हैं—और (इनके जुड़ने से) गांठ (ईर्ष्या) पड़ती है दुर्जनों के (असहिष्णु जनों के) हृदयों में। हे दैव! यह प्रेम की अति नवीन रीत है।

अलंकार—असंगति।

मानहु विधि तन-अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग-पग पोंछन कौं क़रे भूषण पायंदाज ॥४१३॥

प्रसंग—सखी नायक से नायिका की गुराई की प्रशंसा करती है।

अर्थ—(उस सुन्दरी की स्वाभाविक गुराई के सम्मुख स्वर्णिम भूषण ऐसे लगते हैं जैसे स्वच्छ मखमली गलीचे के सामने पायंदाज)

विधाता ने मानो उसके शरीर की निर्मल कान्ति को स्वच्छ रखने के

निमित्त (प्रयोजन से) नेत्र रूपी पैरों को पोंछने के लिए भूषण-रूपी पायंदाज बनाये हैं।

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

तुलनात्मक—नहीं मुहताज़ जेवर के, जिन्हें खूबी खुदा ने दी।
वो कितना खुशनुमा लगता है देखो चांद बिन गहने ॥

पुनश्च—किमिव हि मधुरं मण्डनं नाकृतीनाम्।
—शाकुन्तलम्

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि, चंग रंग भूपाल ॥४२८॥

शब्दार्थ—पीठि दै=मुंह मोड़कर। गुन (श्लिष्ट है) पतंग पक्ष में डोरा, (ईश्वर पक्ष में) आत्मीय गुण। निर्गुन=(१) बिना डेरे का, (२) ईश्वर-रूप त्रिगुणातीत।

प्रसंग—कवि द्वारा अत्यन्त कौशल से निर्गुणोपासना की प्रशंसा की गई है।

अर्थ—गुण-विस्तार से भगवान पतंग की भांति भक्त से दूर ही भागते हैं, परन्तु भक्त जब निर्गुण हो जाता है (सांसारिक पूजापाठ, भक्ति, क्रिया काण्ड आदि से परे) तो भगवान पतंग की भांति उसके निकट (स्वयं उसमें ही) प्रकट होते हैं।

[पतंग की डोर (गुन) ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों उड़ाने वाले से उसकी दूरी भी बढ़ती जाती है और डोर ज्यों-ज्यों समेटी जाती है दूरी भी त्यों-त्यों कम होती जाती है; भगवान भी गुणों के फैलाव के कारण व्यक्ति से दूर हो जाते हैं—(व्यक्ति की दृष्टि गुणों पर अटक जाती है) पर निर्गुण अवस्था में अभेद की स्थिति हो जाने से भगवान स्वयं में ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं।]

अलंकार—श्लेषपुष्ट उपमा।

करतु जातु जेती कटनि बढ़ि रस-सरिता-सोतु।
आलबाल उर प्रेम-तरु तितौ तितौ दृढ़ होतु ॥४५२॥

शब्दार्थ—काट (श्लिष्ट है) रस पक्ष (घाव करना), जलपक्ष=नदियों के कगार काटना। सोतु=धारा।

प्रसंग—सखी मिलनोत्सुका नायिका को समझाती है कि जितना अधिक नायक को तरसाओगी प्रीति उतनी ही गहरी होगी।

अर्थ—प्रीति की नदी की धारा बढ़कर जितनी अधिक काट (नदी के किनारों की, प्रिय-हृदय की) करती जाती है उतनी ही अधिकता से हृदयरूपी क्यारी में प्रेम तरु पुष्ट होता है।

अलंकार—विरोधाभास, रूपक।

इक भीजै चहलै परैं, बूड़ै बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै, बै-नै चढ़ती बार ॥४६१॥

शब्दार्थ—बै=अवस्था, उम्र। नै=नदी।

प्रसंग—कवि प्रस्तुत दोहे में यौवन की उद्दाम प्रवृत्तियों से सावधान रहने के लिए कहता है।

अर्थ—वय रूपी नदी चढ़ते समय संसार में कितने अनर्थ नहीं करती। (इस यौवन-सरिता के प्रभाव में) कोई भीग जाते हैं (विषय-रस-लीन हो जाते हैं), कोई इनकी दलदल में फंस जाते हैं (विषयों में सदैव के लिए उलझ जाते हैं, छूटना चाहने पर भी फिर नहीं छूट पाते) और हजारों व्यक्ति इसमें डूब जाते हैं। (युवावस्था मानव के विवेक पर पूर्णतया छा जाती है, अतः इससे सावधान रहने की आवश्यकता है।)

अलंकार—रूपक।

विशेष—यौवन और नदी दोनों पक्षों में भी अलग-अलग अर्थ लगाया जा सकता है।

तिय-तरसौंहैं मुनि किये, करि सरसौंहैं नेह।
धर-परसौंहैं ह्वै रहे, झर बरसौंहै मेह ॥४८४॥

प्रसंग—कवि ने बादलों की उद्दीपन शक्ति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

अर्थ—झड़ी बांधकर बरसने को उद्यत ये मेघ मुनियों (संसार-विरागी व्यक्तियों) को भी स्नेह से गीला-सा करके स्त्रियों के लिए लालायित करते हुए धरा को स्पर्श सा कर रहे हैं।

अलंकार—अनुप्रास, उद्दीपन, विभाव।

अरुण सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनंद ॥४८७॥

प्रसंग—कवि शरद ऋतु का वर्णन अत्यन्त ललित शैली में करता है।

अर्थ—लाल कमल ही जिसके (सुन्दर-कोमल) हाथ पैर हैं, खंजन पक्षी जिसके नेत्र हैं, चन्द्रमा ही जिसका (मनोहर) मुख है ऐसी शरद् रूपी सुन्दरी अपने (निश्चित) समय पर उपस्थित होकर किसे आनन्द-विभोर नहीं करती।

अलंकार—साङ्गरूपक।

कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ, दीरग-दाघ-निदाघ ॥४८९॥

शब्दार्थ—तपोवन=जिसमें ऋषि-मुनि तप करते हैं वह वन ऐसे वन में तप के प्रभाव से परस्पर विरोधी जीव भी वहां शांत भाव से एक साथ

बैठते हैं। निदाघ=ग्रीष्म ऋतु।

प्रसंग—ग्रीष्म ऋतु का वर्णन।

अर्थ—(परस्पर जन्मजात विरोधी जीव) सर्प और मयूर, मृग और बाघ ग्रीष्म की प्रचण्डता से कहलाते (तड़पते हुए) एकत्र ही बसते हैं। असह्य तपन-भरी गर्मी ने संसार को तपोवन-सा कर दिया है।

विशेष—किसी दरबार में एक चित्रकार ने परस्पर विरोधी जीवों को एक साथ चित्रित करके एक चित्र प्रस्तुत किया और उस दोहे का केवल पूर्वार्ध लिख दिया—कहा जाता है कविवर बिहारी ने इसकी पूर्ति इसी उत्तरार्ध से की थी।

चित्रोत्तर अलंकार के आधार से इसका अर्थ दूसरा ही हो जाता है। इस अर्थ के साथ कहलाने शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है।

कह+लाने=किस लिए [यह प्रश्न है]। उत्तर है—कहलाने=कहलाए।

अर्थ—सर्प-मयूर, मृग-बाघ एकत्र ही किसलिए बसते हैं? (उत्तर) भयंकर ग्रीष्म की असह्य तपन ने संसार भर को तपोवन सा कर दिया है, अतः (परस्पर विरोधी) अहि-मयूर और मृग-बाघ भी एकत्र बसने वाले कहलाने लगे।

अलंकार—उपमा, काव्यलिङ्ग (पूर्वार्ध का उत्तरार्ध में सहेतुक समर्थन है)। चित्रोत्तर अलंकार—प्रश्न का ही शब्द उत्तर का भी शब्द है।

संस्कृत में इस अलंकार के लिए यह प्रसिद्ध पंक्ति दृष्टव्य है—

प्रश्न—का शीतलवाहिनी गङ्गा?

उत्तर—काशीतलवाहिनी गङ्गा।

तथा—

प्रश्न—कं बलवन्तं न बाधते शीतः?

उत्तर—कम्बलवन्तं न बाधते शीतः।

कटि सौंदर्य

लहलहाति तन तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ।
लगै लांक लोइन-भरी, लोइनु लेति लगाइ ॥५३२॥

शब्दार्थ—नई=झुकी हुई। तरुनई=जवानी। लचि=लचीली। लफि=लहराकर लचकना। लांक=कटि। लोइन=नेत्र, लवा पक्षी। लग=लग्गी, कंपा, बांस की पतली छड़ी। लगाइ=आसक्त करना, फंसा लेना।

प्रसंग—नायिका की लचकदार कटि पर विमुग्ध नायक के नेत्रों ने उसे (नायिका को) विवश कर दिया है।

अर्थ—लावण्य रूपी लासा युक्त (उसकी) कटि तन रूपी वृक्ष में झोंके

खाकर लहलहाती हुई लचककर कंपे (हरे बांस की पतली छड़ी) की भांति लफ जाती है। (और इस क्रिया द्वारा) लोचन रूपी लवा पक्षियों को लगते ही (सम्प्रक्त होते ही) मुग्ध कर लेती है—फंसा लेती है।

(२) उसके शरीर में तरुनई (यौवन) लहरा रही है। उसकी लावण्ययुक्त कटि (किसी रसिक के) लोचनों से संस्पृष्ट होते ही लचककर हरी छड़ी की भांति लफ जाती है और दर्शक को (तत्काल) मुग्ध कर लेती है।

अलंकार—श्लेष, साङ्गरूपक, उपमा, वृत्यनुप्रास।

तुलनात्मक—कहां यह लुत्फ चीते ने अगर पाई कमर पतली।
तुम्हारे होंट पतले, उंगलियां पतली कमर पतली ॥
—रश्क

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नांहि।
ए मुंह जोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हूं चलि जांहि ॥६१०॥

प्रसंग—पूर्वानुरागिनी नायिका अभी प्रीति के क्षेत्र में पूरी तरह से खुली नहीं है—अभी उसमें प्रेम लहरा तो उठा है परन्तु लोग क्या कहेंगे इससे वह अपने नेत्रों को नायक से बहुत बचाती है पर प्रेमातिरेक के कारण उसकी चलती नहीं है—यही भाव वह अपनी सखी से कहती है।

अर्थ—मैं विवश हूं, मेरे नेत्र वश में नहीं हैं, ये लज्जा रूपी लगाम (प्रतिबन्ध) से भी नहीं मानते अपितु मुंहज़ोर (ढीठ) घोड़े की भांति खींचने पर भी चले जाते हैं। (नायक की ओर देखे बिना नहीं मानते)।

अलंकार—रूपक, विभावना से पुष्ट पूर्णोपमा।

बिहंसि बुलाइ, बिलोकि उत प्रौढ़ तिया इस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय-चूम्यौ मुंहु चूमि ॥६१७॥

प्रसंग—मित्र मण्डली के बीच स्थित नायक ने बड़े स्नेह से अपने पुत्र का मुख चूम लिया। नायिका ने तत्काल उस पुत्र को अपने पास बुलाकर उसका प्रिय द्वारा चूमा हुआ मुंह बड़े चाव से चूमा और इस भांति पर्यायान्तर से प्रिय का अधरामृत पान किया।

अर्थ—हल्की हंसी के साथ पुत्र को पास बुलाकर नायक की ओर देखते हुए उस प्रौढा ने रसोन्मत्ता होकर मोड़ लेते हुए उस पुत्र का प्रिय-चुम्बित मुख चूमा है और अब रोमांचित होकर पसीज रही है (पसीनें से तर हो रही है)।

अलंकार—असंगति ("और ठौर करनीय जो करैं और ही ठौर")—पुत्र द्वारा प्रिय अधरामृत का आनन्द लिया है।

चिर जीवौ जोरी, जुरै क्यौं न स्नेह गंभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥६७७॥

शब्दार्थ—वृषभानुजा=(१) वृषभानु की पुत्री, (२) वृषक सूर्य की बेटी, (३) बैल की बहिन। हलधर=(१) बलदेव जी, (२) शेषनाग, (३) बैल।

प्रसंग—मानिनी राधा को मनते न देख कृष्ण भी रूठकर बैठे हैं। दोनों की इसी दशा की चर्चा एक सखी दूसरी सखी से बड़े कौशल से त्र्यर्थक श्लेष बल से करती है।

अर्थ—(१) यह (उत्तम) जोड़ी चिरायु हो। इसमें गहरे स्नेह की भी वृद्धि क्यों न हो ? क्योंकि इन दोनों में कोई भी एक दूसरे से न्यून नहीं है। राधा वृषभानु जैसे सत्पुरुष की बेटी है और कृष्ण बलदेव जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के भाई।

(इस अर्थ से यह लाक्षणिक संकेत मिलता है कि इन दोनों में विमनस्कता क्षणिक है। अभी थोड़ी देर में ये अवश्य ही एक हो जाएंगे—क्योंकि ये दोनों शिष्ट हैं।)

(२) (इस अर्थ में सखियों ने प्रेम में रोज-रोज रूठना अनुचित बताया है—इससे प्रेम में गहराई का आना असम्भव हो जाएगा।)

यह युगल चिरंजीवी हो। (पर) इनमें आत्यंतिक प्रीति कैसे हो सकती है, क्योंकि इन दोनों में कम कोई नहीं (दोनों क्रोधी हैं)। ये राधा वृषके सूर्य की बेटी है (अतः उग्रता स्वाभाविक है) और वे कृष्णजी) शेषनाग के अवतार) के भाई हैं (अतः उनमें भी उग्रता है ही)।

(३) (इस अर्थ में राधाकृष्ण की उक्त प्रकृति का परिहास किया गया है—इस उद्देश्य से कि दोनों अपनी कुटेव छोड़ें। इन दोनों की जोड़ी चिरंजीवी हो। (परन्तु) इन दोनों में कम कोई नहीं है (दोनों उग्र हैं) अतः स्नेह में गहराई कैसे आ सकती है ? यह (राधा) तो वृषभ-अनुजा (बैल की बहिन) हैं और वह (कृष्ण) हलधर (बैल) के भाई (अर्थात् दोनों ही पशु हैं)।

अलंकार—श्लेष वक्रोक्ति, सम।

विशेष—१. 'वृषभानुजा और हलधर के बीर' में शब्द श्लेष मूलक परिहास ध्वनि है।

२. सभङ्ग एवं अभङ्ग श्लेष का भी श्रेष्ठ उदाहरण है।

३. अर्थ गाम्भीर्य एवं वैविध्य स्तुत्य है।

४. भाषागत सामासिकता अनुपम है। ('गागर में सागर' वाली उक्ति यहां अक्षरशः चरितार्थ होती है)।

भौंहनु त्रासति, मुंह नटति, आंखिनु सौं लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति करु, इंची आगैं आवति जाति ॥६८३॥

शब्दार्थ—त्रासति=डराती है। ऐंचि=खींचकर। इंची=खींची हुई।

प्रसंग—परकीया ने प्रथम मिलन में प्रीति लाज और कृत्रिम रोष भरी चेष्टाएं की हैं। सखी दूसरी सखी से इन्हीं चेष्टाओं की चर्चा करती है।

अर्थ—भ्रकुटियों से रोष प्रकट करती है, मुंह से नटती है और आंखों लिपटती-सी जाती है। (नायक द्वारा पकड़े गए) हाथ को खींचकर छुड़ाती है और (विह्वलतावश) स्वयं ही आगे को खिची चली जाती है।

(कितनी प्यारी और रसपूर्ण चेष्टाएं हैं) विभिन्न मनोभावों का सुन्दर चित्रण है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

अहे दहेंड़ी जिनि धरैं, जिनि तूं लेहि उतारि।
नीकैं है छींकैं छुवै, ऐसैंई रहि, नारि ॥६६९॥

प्रसंग—नायिका छींके पर दधि-पात्र रख रही है। नायक को यह चेष्टा बड़ी प्रिय लगी, अतः वह नायिका से कुछ देर उसी ऊंचे हाथ की स्थिति में रहने का निवेदन करता है।

अर्थ—अरी ! तू इस दहेंड़ी को अभी छींके पर मत रख और न इसे अभी नीचे ही उतार। छींके को छूती हुई तू बड़ी नीकी लग रही है अतः हे सुन्दरी ! इसी अवस्था में कुछ देर रह।

विशेष—छींके पर पात्र रखते समय नायिका का हाथ ऊंचा होने से उसकी कटि और उदरादि नायक को दिखे, अतः वह रीझ उठा है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

०००